रमेशचन्द्र शाह के उपन्यासों में सांस्कृतिक एवं सामाजिक पक्ष

भारतीय संस्कृति

भारतीय संस्कृति की देश–विदेश में स्थिति जानने से पूर्व संस्कृति और सभ्यता में अंतर जानना आवश्यक है। इस विषय पर पश्चिम के समाज–शास्त्रियों में हर्षकोविट्रस, समनर, रूथ बेनेडिकट, मैकाइवर व पेज तथा सदरलैंड और वुडवर्ड आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

मैकाइवर एवं पेज का कथन है– "संस्कृति हमारे जीवन–क्रमों, चिंतन दृ–पद्धतियों, दैनिक संपर्कों, कला, साहित्य, धर्म, मनोरंजन, विनोद आदि में हमारी प्रकृति की ही अभिव्यक्ति है। आधुनिक भारत में परंपरागत समाज और सांस्कृतिक प्रतिमानों का वर्णन करना एक कठिन कार्य है। समनर ने सूत्र रूप में संस्कृति की परिभाषा देते हुए कहा है– ''Culture is the sum total of human behavior'' अर्थात् संस्कृति समग्र मानव व्यवहार में परिवार, पास–पडोस, ग्रास, नगर, देश तथा विश्व–समुदाय आदि सभी की भूमिकाएँ होती हैं। भारतीय संस्कृति में कभी माता का स्थान सर्वेच्च माना जाता था, पिता दूसरे स्थान तथा आचार्य तीसरे पर प्रतिष्ठित हुआ करते थे, किंतु बदलते परिवेश तथा भौतिकता की अंधी भागम–भग ने सब कुछ उलट–पलट दिया, लेकिन हमारे संस्कृति के कारण से आज तक शिक्षा के क्षेत्र में अपनी संस्कृति का हम पालन करते हैं।

4.1 संस्कृति का सामान्य परिचय और भारतीय संस्कृति

भारतीय संस्कृति को समझने का एक तरीका यह हो सकता है कि उन विभिन्न सामाजिक संस्थाओं को समझने का प्रयास है। लेकिन सामाजिक संस्थाएँ एक मूल्यबोध की अभिव्यक्ति होने के बावजूद देशकाल और परिस्थिति से बद्ध होती हैं। बदलती हुई ऐतिहासिक परिस्थितियों में कई बार जड़ता और विकृतियों से ग्रस्त भी होती है। अतएवं उनके माध्यम से संस्कृति के सार तत्व की पहचान कभी–कभी भ्रान्तिपूर्ण भी हो सकती है। संस्थाएँ स्वयं में संस्कृति नहीं होती, वे मूल्यबोध की सिद्धि का देशकालबद्ध प्रयत्न होती

है। उनके माध्यम से यह तो जाना जा सकता है कि किस देशकाल में किस प्रकार और किस हद तक समाज अपने मूल्यबोध की सिध्दि में सफल अथवा असफल हुआ–लेकिन उन संस्थाओं की संस्कृति के सनातन प्रतिमानों की हैसियत नहीं मानी जा सकती। इसलिए परम्परा की व्याख्या करते हुए प्रसिध्द इतिहासविध्द डॉ.गोविन्दचन्द पांडे का यह मत ग्राहन प्रतीत होता है कि वह कोई नियम–संहिता नहीं, बल्कि सोचने की एक "विधि" है। मैं इस सोचने की विधि में उन संवेदनाओं को भी शामिल करना चाहता हूँ जिन्हें संस्कार कहा जाता है– संस्कार किसी हजार व्यवहार के रूप में नहीं मूल्य संवेदना के रूप में क्योंकि परंपरा अन्ततः एक समाज की मूल्य चेतना है और कोई भी मानव समूह एक परंपरा में होने के बोध के कारण तो एक समाज कहलाता है।

किसी भी समाज का मूल्यबोध अपने से इधर सृष्टि के साथ उसकी सहज अभिवृत्ति से प्रसूत होता है। कुछ ऐसे सामान्य नैतिक गुण होते हैं जो सभी संस्कृतियों में समान रूप से मिल जाते हैं, लेकिन किसी भी संस्कृति की विशिष्टता इस बात पर निर्भर करती है कि उन गुणों या नैतिक मूल्यों की पृष्ठभूमि में चिन्तन की कौन–सी विधि काम कर रही है और वह विधि किस तरह के चिन्तन की उपज है क्योंकि अन्ततः उस संस्कृति की सामाजिक–आर्थिक संस्थाओं का स्वरूप और कार्य–विधि उस चिंतन पर ही निर्भर करती है।

इस दृष्टि से देखने पर भारतीय चिन्तन और पश्चिमी चिन्तन में एक बुनियादी फर्क नजर आता है– यह फर्क किसी श्रेष्ठता, अश्रेष्ठता के भाव से नहीं समझा जाना चाहिए– क्योंकि प्रत्येक संस्कृति की अपनी परिस्थितियाँ होती हैं– बल्कि सिर्फ भारतीय चिन्तन की विशिष्ट बनावट को समझने के लिए ही इस पर गौर किया जाना चाहिए क्योंकि इससे हमें न केवल स्पष्टता से उसे समझने में मदद मिलेगी बल्कि हम आगे उठने वाले बहुत से सवालों के समाधान की दिशा का संकेत भी पा रहे होंगे।

पश्चिम अपने श्रेष्ठतम नैतिक उत्कर्ष के क्षणों में भी अधिक से अधिक मानव केन्द्रित लगता है। मानव केन्द्रित होना भी मानव निरपेक्ष से बेहतर है– लेकित उसकी सीमा यह है कि इस दृष्टि में अन्य सब कुछ मानव के उपभोग के लिए हो जाता है और इसका परिणाम यह होता है कि मानवेतर सृष्टि के प्रति वह अधिक से अधिक एक दयाभाव तो

रख सकता है– और यह दयाभाव भी कई बार अपने अस्तित्व की रक्षा की चिन्ता से उद्‌भूत होता है जैसा कि पर्यावरणवादियों को हो रहा है–लेकिन अपने से इतर के साथ उस अस्तित्विक एकता का बोध वह नहीं कर सकता जो भारतीय चिन्ता की बुनियादी संवेदना है।

व्यक्ति की स्वार्थ परायणता के अतिरिक्त एक ऐसी चीज है जिसे जाति की स्वार्थ–परायणता कहा जा सकता है और जो अनिवार्यतः इस विश्वास को जन्म देती है कि अमानवीय सृष्टि का मनुष्य के हित में दोहन किया जा सकता है। यदि मनुष्य को सचमुच मुक्त होना है तो इसका भी त्याग करना होगा और वह ऐसा केवल तभी कर सकेगा जब वह मानव–केन्द्रित दृष्टिकोण से ऊपर उठ जायेगा तथा गीता के शब्दों में–

विद्धया और विनय से सम्पन्न ब्राहमण, गाय हाथी, स्वान तथा स्वान का मांस खाने वाला चांडाल, सबके प्रति समदर्शी हो सकेगा। भारतीय चिन्तन इसलिए मानवमूलक नहीं बल्कि समग्रतामूलक है और सम्पूर्ण मानवीय और मानवेतर सृष्टि के साथ तक अस्तित्विक अद्वैत का सम्बन्ध अनुभव करता है। कर्मफल का सिध्दान्त उसे केवल अन्य मनुष्यों के प्रति ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण सृष्टि प्रति उत्तरदायी बनाता है और इस उत्तरदायित्व की पृष्ठभूमि में एक अस्तित्वगत तात्विक ऐक्य की भावना काम कर रही है। इसलिए यह स्वाभाविक लगता है कि सृष्टि की प्रत्येक चीज के साथ मनुष्य का रिश्ता एक मर्यादा को अनुशक्ति है और मर्यादा– भंग का अर्थ है पाप, जिसका परिणाम उसे अनिवार्यतः भोगना होगा।

भारतीय संस्कृति का अर्थ समष् अस्तित्व की एकता की अनुभूति से प्रस्तूत अहिंसा बोध है, यों भी कह सकते हैं कि एक अहिंसा की साधना प्रकिया से प्रसूत समग्र अस्तित्व की एकता की अनुभूति ही भारतीय संस्कृति की साधना है। भारतीय सामाजिक संस्थाएँ और ज्ञान–विज्ञान सभी ऐतिहासिक विकृतियाँ और मानवीय भटकावों के बावजूद, इसी अहिंसा बोध की देशकाल प्रेरित अभीठ्यकियाँ है जो कालान्तर में कई कारणों से क्षीण होती गयी हैं। लेकिन भारतीय संस्कृति के सम्मुख सबसे बड़ी चुनौती हिंसा की– वह हिंसा भी जो सामाजिक–आर्थिक संस्थाओं और नियम अहिंसा की जड़ता और ऐतिहासिक विकृतियों की उपज है और औपनिवेशिक मानसिकता की देन हैं।

4.2 संस्कृति शब्द और संस्कृति एवं सभ्यता

संस्कृति शब्द अपने आकार–प्रकार में जितना छोटा है मायने के सन्दर्भ में उतना ही बड़ा एवं व्यापक आधार वाला दिखाई पड़ता है। दैनिक व्यवहार में संस्कृति का तात्पर्य मनुष्य की मानसिक उन्नति से है, संस्कार युक्त उसकी आचरण पद्धति से है। वस्तुतः संस्कृति वह सामाजिक विरासत है जिससे परम्परा से कला–कौशल, विचार–व्यवहार, आदतें, नैतिक मूल्य आदि समावेशित हो जाते हैं। संस्कृति से हीन परिवार, समाज या राष्ट्र की कल्पना करना गप्प हाँकने जैसा हैं। इन संस्थाओं की निर्मिति में संस्कृति आधाररूप में कार्य करती है। संस्कृति के माध्यम से ही समाज के नवयुवक अपने देश की परम्परा–धर्म, दर्शन, इतिहास, ज्ञान–विज्ञान एवं विरासत से परिचित हो पाते हैं। हम विश्व–सभ्यता के इतिहास में देखें तो यह दिखायी पड़ेगा कि मानव जाति को विशिष्टता प्रदान करने में संस्कृति की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। संस्कृति ही उसे सामाजिक एवं ऐतिहासिक धरातल प्रदान करती है। संस्कृति की रेश्मियों से ही किसी भी व्यक्ति का व्यक्तित्व सहजता, संवरता एंव निखरता है। भारतीय संस्कृति का विश्व संस्कृति का विश्व संस्कृति में अपना अनुपम स्थान है। यह जीवन के भौतिक पक्ष की अपेक्षा आध्यात्मिक पक्ष पर बल देती है। साथ ही यह व्यक्तित्व के एक कल्पनाशील एवं भावना–प्राण, उदार एवं सौम्य आदर्श पर जोर देती रही है। यह आदर्श अत्यन्त प्राचीन काल से लेकर आज तक किसी–न–किसी रूप में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता रहा है।

भारत विभिन्नताओं से भरा हुआ देश है। चाहे प्रकृति हो, भौगोलिक संरचना हो, जलवायु हो, लोगों के रहन–सहन, रूप–रंग एवं परिवेश हो, बोली एवं भाषा हो सब में यह विभिन्नता सहज ही दिखायी पड़ती है। मोटे तौर पर भारत को उत्तर भारत एवं दक्षिण भारत के रूप में बाँटकर सांस्कृतिक तौर पर इसका अध्ययन करने की परंपरा रही है। उत्तर भारत वह क्षेत्र है जहाँ वेदों, उपनिषदों, महाकाव्यों की रचना हुई, जो राम, कृष्ण एवं बुध्द, महावीर जैसी विभूतियों की जन्मस्थली रही है। संस्कृति के आधार सृजन में इस क्षेत्र का बहुत बड़ा योगदान रहा है। फिर भी दक्षिण भारत की अपनी विशिष्ट संरचना एवं

सांस्कृतिक परिवेश रहा है, जिसने अपने प्रभाव से सम्पूर्ण भारत को आच्छादित किया है, समुद्र से घिरे होने के कारण यह क्षेत्र प्रायः सामुद्रिक सम्पर्कों का केन्द्र बना।

मानव द्वारा अपने जीवन को सुसंस्करित रूप से जीने की प्रविधि है संस्कृति। आदिम से आदमी बनने की प्रक्रिया में संस्कृति मुख्य कारक रही है। आदमी बनने की प्रक्रिया एक लम्बे अरसे से अनवरत चली आ रही है जिसे व्याख्याखित कर पाना आसान नहीं है।

"संस्कृति" शब्द की निर्मित संस्कृत भाषा के दो शब्दों "सम" ओर "कृति" से हुई है। उसका मूल "कृ" धातु में है जिसका अर्थ है– "मूल क्रिया"। संस्कृत व्याकरण के अनुसार "कृ" धातु में "सम" उपसर्ग लगाकर भूषण अर्थ में "सुट्" प्रत्यय होते में संस्कृति शब्द बनता है। इस प्रकार संस्कृति का अर्थ हुआ– शुध्द किया हुआ परिष्कृत एवं परिमार्जित करना। "संस्कृति" शब्द का अर्थ वे सभी मानवीय विचार "चेष्टाएँ, कर्म आदि हैं जो उसके धार्मिक, आध्यात्मिक, लौकिक, राजनैतिक क्रिया–कलापों के कारण परम्परा का रूप धारण कर लेते हैं।

अंग्रेजी भाषा में संस्कृति के लिए कल्चर (Culture) शब्द व्यवहृत किया जाता है। Culture शब्द लैटिन के "कल्चुरा" तथा "कोलियर" शब्दों से निकला है जिनका अर्थ "उत्पादन" एवं परिष्कार है अर्थात "उत्पादन" के फल्स्वरूप परिष्कार। विश्व की दो प्राचीनतम भाषाओं (लैटिन एवं संस्कृत) में संस्कृति के व्युत्पन्नात्मक शब्दों के अर्थ पर अमर हम गौर करें तो संस्कृति का सम्बन्ध किसी न किसी क्रिया अथवा व्यवहार से स्थापित होता दिखायी पड़ता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि संस्कृति के द्वारा किसी व्यक्ति समाज अथवा राष्ट्र के लक्षणों को परखा जा सकता है। इस प्रकार संस्कृति समस्त कालों के समाज एवं सभ्यता की ऐसी संचित निधि है जो परिष्कार द्वारा निरन्तर प्रगति करती हुई अथवा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी से तीसरी पीढ़ी से को उत्तराधिकार स्वरूप प्राप्त होती रहती है।

संस्कृति की परिभाषा के बारे में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। क्रोबर (Kroeber) और क्लुखोन (Kluckohn) प्रभूते विद्वानों ने अपनी पुस्तक"। Critical Review of Concepts and Definitions में संस्कृति के 108 परिभाषाएँ की चर्चा की है।

अंग्रेजी के विख्यात कवि मैथ्यु अर्नाल्ड ने जीवन के आलोक एवं कोमलता को ही संस्कृति की संज्ञा दे डाली है। प्रख्यात दार्शनिक एवं समाजशास्त्री केसिरर तथा सोरो किन न मानव की नैतिक, बौध्दिक तथा आध्यात्मिक उपलब्धियों को संस्कृति शब्द सें सम्बोधित करना यथोचित बताया है उर्पयुक्त पाश्चात्य विद्वानों के साथ–साथ कुछ भारतीय विद्वानों की संस्कृति से सम्बन्धित परिभाषाएँ इस प्रकार हैं।

पण्डित जवाहर लाल नेहरु के शब्दों में संस्कृति क्या हैं? शब्द कोष में इसकी अनेक परिभाषाएँ मिलती हैं। संसार में जो भी सर्वोत्तम बातें जानी या कहीं गयी हैं उनसे स्वयं को परिचित कराना संस्कृति है। एक अन्य परिभाषा में कहा गया हैं– संस्कृति शारीरिक या मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण, दृढ़िकरण या विकास अथवा उससे उत्पन्न अवस्था हैं।

रामधारी सिहं दिनकर संस्कृति को परिभाषित करते हुए अपनी पुस्तक संस्कृति के चार अध्याय में लिखते हैं– असल में संस्कृति जीवन का एक तरीका है जिसमें हम जन्म लेते हैं।..... अपने जीवन में हम जो संस्कार जमा करते हैं वह भी हमारी संस्कृति का अंग बन जाता है और मरने के बाद हम अन्य वस्तुओं के साथ–साथ अपनी संस्कृति की विरासत भी अपनीं सन्तानों के लिए छोड़ जाते हैं इसलिए संस्कृति वह मानी जाती है जो हमारे सारे जीवन में व्यवहार हुए हैं तथा जिसकी रचना एवं विकास में अनेक सदियों कें अनुभवों का हाथ है। उपर्युक्त परिभाषाओं के आलोक में संस्कृति की परिभाषा के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता हैं कि संस्कृति किसी एक समाज में पायी जाने वाली उच्चतम मूल्यों की वह चेतना है जो सामाजिक प्रयासों, व्यक्तियों की चित्तवृत्तियों, भावनाओं, मनोवृत्तियों, आचरण के साथ–साथ उसके द्वारा भौतिक होती हैं। संस्कृति जीवन जीने का एक विशिष्ट दृष्टिकोण हैं, अनुभव के मूल्यांकन और व्याख्या का एक विशिष्ट और भूलभूत प्रकार है।

सभ्यता और धर्म दो ऐसे पद (Term) हैं जिनसें संस्कृति को प्रायः जोड़ा जाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो संस्कृति और सभ्यता धर्म में भले ही एक रूपता दिखायी पड़ती हो, परंतु आन्तरिक तौर पर दोनों में कुछ मूलभूत अन्तर हैं, दोनों की अपनी–अपनी विशिष्टताएँ हैं और इन्ही अर्थों में संस्कृति अपना वह विधान निर्मित करती है जिस पर सभ्यता एवं धर्म की इमारत तैयार होती है।

संस्कृति एवं सभ्यता

संस्कृति और सभ्यता एक दूसरे से इस तरह आबद्ध हैं कि आमतौर पर इन्हें एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है एवं समझा जाता है। अंग्रेजी भाषा में सभ्यता के लिए Civilisation शब्द का प्रयोग किया जाता है, इन शब्दों का अर्थ हैं– नगर निवासी एवं नगर। इस प्रकार सभ्यता मनुष्य के सांस्कृतिक विकास की वह स्थिति है, जिसमें वह अपना घूमन्त जीवन छोड़कर नगर कहे जाने वाले क्षेत्रों में रहना प्रारम्भ कर देते हैं। (यहाँ नगर का अभिप्राय सामूहिक रूप में एक स्थान पर लोगों के स्थायी निवास से है) तथा उच्च श्रेणी के भौतिक जीवन था, उच्च स्तर के प्रतीक बन जाते हैं। इसी क्रम में जे एच फिरार महोदय इस तरह के समाज में जरूरतों के अनुसार एक लिखित भाषा तथा उसकी व्यापकता की परिकल्पना करते हैं।

संस्कृति भाषा से सभ्यता शब्द की उत्पत्ति 'सभाकृ' शब्द से हुई हैं जिसका अर्थ है– सभा में बैठने की योग्यता। निश्चित तौर पर इस तरह की संस्थाओं में शामिल होने वाले लोगों को आत्मानू शासन का परिचय देना होता है। इन संस्थाओं के लिए सामाजिक भावनाओं के अनुरूप ही शिष्टाचार के नियम बनाये गये जिसके अनुपालन का आग्रह इसमें भाग लेने वाले सभी लोगो से किया जाता था। इस अर्थ में सभ्यता शब्द से नागरिकता का बोध होता हैं जिसमें बौद्धिक विकास, भौतिक सुख–समृद्धि के साधनों में उन्नति तथा उच्च नैतिक विचारों को पक्ष दिया जाता है।

एक दिखाई पड़ने के बावजूद संस्कृति एवं सभ्यता में कुछ मूलभूत अन्तर हैं। संस्कृ ति मानसिक क्षेत्र की समृद्धि का घोतक है जबकि सभ्यता भौतिक क्षेत्र की उन्नति का घोतक सभ्यता और संस्कृति दोनों ही मानव मन की सर्जनात्मक गतिविधियों का परिणाम होती है। जब ये सर्जनात्मक विधियाँ उपयोगित की दृष्टि से परिचालित होती हैं तब सभ्यता की वृद्धियाँ होती हैं। और जब ये जीवन के अन्तर्मूल्यों के प्रति जागरूक होकर परिचालित होती हैं तब संस्कृति का निर्माण होता है।

संस्कृति मनुष्य में तृप्त पड़ती मानवीय भावनाओं को जागृत करने में सहायता देती है। संस्कृति के ही सहारे मनुष्य मानवता का व्यवहार सीखता है। इस तरह संस्कृति जीवन

की आन्तरिक जबकि सभ्यता ब्राह्मा तत्व हैं। यह दोनों का स्थूल भेद हैं मनुष्य का मन और बुद्धि परिष्कृत करना संस्कृति का कार्य है। सभ्यता उस मानसिक और बौद्धिक परिष्कार के परिप्रेक्ष्य में बनी जीवन–प्रणाली का नाम है।

रामधारी सिहं दिनकर ने संस्कृति एवं सभ्यता के अन्तर को सुस्पष्ट करते हुए लिखा है– संस्कृति एक ऐसी चीज है जिसे लक्षणों से तो हम जान सकते हैं, किन्तु उसकी परिभाषा नहीं दे सकते। अंग्रेजी में कहावत है कि सभ्यता वह चीज है, जो हमारे पास है। संस्कृति वह गुण है जो हममें व्याप्त है। मोटुर महल, सड़क, हवाईजहाज, पोशाक और अच्छा भोजन–ये तथा इनके समान सारी अन्य स्थूल वस्तुएँ संस्कृति नहीं, सभ्यता कें समान हैं। मगर पोशाक पहनने और भोजन करने में जो कला है, वह संस्कृति की चीज है। अनेक पंखुडियां फूटी, पल्लवित और पुष्पित हुई और उन पुष्पों की सुगन्ध से समग्र विश्व का वातावरण सुगन्धित हुआ है यह इसकी विशेषता है। यही इसका मूल है, अतः यह सुखी नहीं, हरी–भरी पल्लवित और पुष्पित होकर लगातार फल देती आई है जिन्हें समग्र विश्व ने समय–समय पर चखा है, खाया है, तथा तृप्त हुआ है। सम्भवतः भारतीय संस्कृति के वैलक्षण्य में हमारी शिक्षा पद्धति ने शानदार भूमिका निभाई है, क्योंकि हमारे मनीषियो न शिक्षा के उद्देश्यों को स्पष्ट किया है। विद्या–शिक्षा मनुष्य को विनय–नम्रता–शील देती है और नम्रता–शील सौजन्य मनुष्य में पात्रता –योग्यता का प्रेवश कराता है योग्यता से धनार्जन तथा धन से धर्मा चरण अर्थात सद आचरण तथा सद–आचरण से सुख की, आत्मतोष की प्राप्ति होती है। अतः जो विद्या–शिक्षा यह सब नहीं कर सकती वह शिक्षा कहलाने योग्य नहीं है क्योंकि मानव जीवन की सार्थकता मानव समाज की सेवा में है न कि शोषण में यदि शिक्षा शोषण में सहभागी है, प्रेरक है तो फिर वह कैसी शिक्षा!

शिक्षा–विद्या ज्ञानदाता है, प्रकाश दात्री है, अतः वह शिक्षा कैसी जो हमें कैदी–वन्दी बनाए, अन्धेरे में रखे! शिक्षा वही है जो मनुष्य, समाज तथा राष्ट्र को बन्धन से मुक्त करें। अंधकार से प्रकाश की और ले जाए, विघ्वस को निर्माण में परिवर्तित करे सोने वालो को जगाए, अगतिशील को प्रगतिशील बनाए, आगे बढ़ाए। भारतीय संस्कृति लाजवन्ती का पौधा नहीं है कि किसी ने छुआ और सिकुड गई यह एक सनातन दृ

–शाश्वत बेल है, लेता है। यह खूब फैली चारों तरफ, दिगदिगन्त तक और उससे भी आगे यह प्राचीनतम हैं। किन्तु सही नहीं, गली नहीं। शायद चांद–सितारों की तरह प्राचीनतम! परन्तु इसमें नव्यता है, भव्यता है तथा मौलिकता का इसका स्वाभाविक गुण रहा हैं जो निरन्तर आज भी बना हुआ है, मविष्य में भी बना रहेगा। सागर सें भी विपुल गम्भीर–गहरी, हिमालय से भी कई गुना ऊँची और विशाल तथा आकर्षक सर्व रसमयी और सर्व सुखकारी, याने प्राणी मात्र का कल्याण भारतीय संस्कृति की अपनी विशेष विशिष्टता है, इसलिए यह सही दृ–गली नहीं नव्य बनी रही और बनी रहेगी।

भारतीय संस्कृति भारतीय समाज की चिर एकान्त साधना, का चरमोत्कर्ष है! समनमयी, गरिमामयी, सतत दृ–प्रवाहशीलता और आकर्षक शक्ति से भरपूर हमारी संस्कृति ने कई लय, प्रलय और महाप्रलय देखे हैं, फिर भी यह वैसी की वैसी और नवीनता का चमत्कार लिए विश्व में अपना अस्तित्व बनाए हुए है।

भारतीय संस्कृति के मूल में निवास करने वाले पठन पाठन और चिन्तन–मनन ने उसे विकृत होने से बचायेगी, और उसकी ताजगी को बनाए रखा, अतः वह सही नहीं, गली नहीं तथा अपने विश्व कल्याणकारी स्वरूप को बनाए रही। यह लम्बी और दूर–दूर तक फैली बेल है। जिससे वह नेता है, वह साहित्यकार–कृतिकार है वह कलाओं का उन्नायक है, इसलिए उसकी समता अन्य जीवों दूवारा सम्भव नहीं। कुदुम्ब, समाज और राष्ट्र तथा अन्तत : 'जय जगत' की रचना के दूवारा उसने अब तक की संघर्ष शील उपलब्धि को जगत के हित न्यौछावर किया है, इसलिए इसी उद्देम–भावना है।

4.3 एकता के तत्व

राष्ट्रीय एकता और स्वंतत्रता शब्दों को पर्यायवाची माना जाना चाहिए, किसी भी राष्ट्र की स्वंतत्रता सुरक्षित रखने के लिए राष्ट्रीय एकता का होना अत्यावश्यक है, इतिहास साक्षी है कि दृ–जब भी राष्ट्रों का विघटन हुआ अथवा राष्ट्र परतंत्र बनें, तब राष्ट्रीय एकता ही इन बातों का कारण बनी। राजतंत्र हो अथवा एकतंत्र हो या प्रजातंत्र हो, तीनो की सत्ता की सूरक्षा के लिए राष्ट्रीय एकता आवश्यक हैं। यद्यपी राजतंत्र और एकतंत्र में प्रजा की एकता के लिए राजा के दूवारा अथवा तानाशाह (डिक्टेटर) के द्वारा उचित–अनुचित

बल प्रयोग का भी पूरा– पूरा सहारा लिया जाता है, किन्तु प्रजातंत्र में बल प्रयोग के लिए कम गुंजाइश होती है।

राजतंत्र में राजा प्रजा का स्वामीजी होता है। स्वामित्व भी साधारण नहीं, अपितु असाधारण, इसलिए वह प्रजा का भाग्यविधाता होता है, इसी प्रकार एकतंत्र में तानाशाही ही सर्वोपरि होती है। आज राजतंत्र और एकतंत्र की सता भूमंडल से समाप्त प्रायः है क्योंकि इन दोनों के द्वारा मनुष्य उतना सुख प्राप्त न कर सका, जितना कि उसे प्राप्ति की आशा थी, इसलिए इन दोनों का स्थान आज प्रजातंत्र ने ले लिया है। ऐसा स्वाभाविका भी था। क्योंकि प्रजातंत्र से मनुष्य को अधिक आशा थी और आज भी है। यही कारण है कि विश्व के प्रगतिशील राष्ट्रों ने प्रजातंत्र शासन प्रणाली अपनाई है।

भारत के प्रत्येक प्रजाजन के लिए प्रत्येक हिन्दु, मुसलमान, ईसाई, सिख एवं भारत में रहने वाले प्रत्येक उस व्यक्ति के लिए जो भारतीय रजकणो से निर्मित है। अथवा इस भूमि के जल, वायु, अन्न से पोषित हो रहा है। देश की स्वतंत्रता सबसे मूल्यवान है। राष्ट्रीय हित के लिए, स्वतंत्रता की रक्षा के लिए यदि हम भारतीयों को व्यक्तिगत सम्पत्ति, मान–मर्यादा, स्वशरीर तक भी होम करना पड़े तो किसी प्रकार की हिचकिचाहट न होनी चाहिए यदि हम ऐसा नहीं कर पाते है। तब राष्ट्रीयता की बात मात्र ढोग हीं हैं। हम उस माता से विश्वासघात करते हैं। जिसके शस्य करो से हमारे शरीर का आकार बना है।

भारत भूमि की खुशहाली का अर्थ भारतीय जनता की खुराहाली है भारत की उन्नति, भारत, निवासियों की समृद्धि है किन्तु जिस प्रकार की विघटनकारी प्रवृतियाँ आज देश में चल रही हैं। प्रान्तवाद, भाषा वाद, जातिवाद एवं इसी प्रकार की अराष्ट्रीय चेष्टाएं जैसे इस भूमि के गीत न गा कर किसी अभारतीय भूमि के गीत गाना, इस भूमि के महत्व को उपेक्षणीय समझ कर किसी अन्य देश के महत्व को अधिक आंकना आदि बातों के होते हुए क्या देश को अखण्ड स्वतंत्रता स्थिर रह सकेगी? यह एक जटिल समस्या है। इसी का समाधान हम सबकों मिलकर ढूँढ़ना है।

यह एक अनुपेक्षणीय सत्य है कि राष्ट्रीय एकता के बिना स्वतंत्रता एवं भारतीय प्रजातंत्र का भविष्य न केवल खतरे में है अपितु अंधकारमय है, उसका किसी संकीर्ण 'वाद' के गर्त मे समा जाने का भय है। इसलिए राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ बनाने की आवश्यकता

हमारी और हमारे देश की पहली आवश्यकता है, क्यों कि राष्ट्रीय एकता के बिना न योजनाएं पूर्णतः कीमती हैं। न प्रगति तथा विकास हो पाता है। न देश ही सुदृढ़ तथा सुस्थिर हो पाता है, तथा न शासन ही ईमानदारी बन पाता है। वे स्वप्न साकार हों, जिन्हें हम साकार बनाने को आतुर हैं। राष्ट्रीय एकता के लिए राष्ट्रीय एकता की आहा कड़ी अपनी संस्कृति के प्रति अनुरूप का उत्पन्न।

वसुधैव कुटुम्बकम्

हितोपदेश में कहा गया है। उदार चरिताना तु वसुधैव कुटुम्बकम् (1/70)। जब चित्त उदार बनता है। जब मन महामना बनता है। जब चेतना का विस्तार होता है। तब पूरी बसुधा एक कुटुम्ब के रूप में परिणत हो जाती है।

प्राचिनकाल से लेकर आधुनिक युग तक जब–जब विभिन्न दार्शिकों, चिन्तकों मनीषियों, कवियों एवं कलाकारों ने 'स्व' की संकीर्ण परिधि को त्यागकर पृश्वी लोक के एकत्व की प्रतीति की तब–तब उन्हें 'वसुधैव कुटुम्बकम' की अनुभूति हुई। ईश्वर जीव तथा जगत् दोनों पर शासन करता है। वह सर्वशक्तिसम्पन्न और अधिकारभाव से संयुक्त है। उसकी इच्छा ही विधान है। न्यायात्मक रूप में वह न्याय के आधार पर शासन करता है। उसकी दृष्टि में सब जीव समान हैं। वह जीव को उसके गुण–अवगुण के कारण कर्मों का फल देता है। दयालु रूप में वह प्रेम एवं करूणा की मूर्ति है। वह अपने जीवों से प्रेम करता है, उनके जीना चाहता है।

बीसवीं शताब्दी ने ईश्वर के स्थान पर मनुष्य को प्रतिष्ठित किया है। मनुष्य ही सारे मूल्यों का स्त्रोत एवं उपादान है। मानववादी दृष्टि का पल्लव हुआ है। बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक का आरम्भ विश्वशक्तियों के गुटों के विघटन से हुआ है। पूर्वी यूरोप के देशों की लौट दीवारें ध्वस्त हो चुकी हैं तथा संसार के अधिकांश देशों ने लोकतन्त्रात्मक शासन–व्यवस्था का वरण कर लिया है। पूँजीवादी देशों में भी वैचारिक परिवर्तन होने आरम्भ हो गये हैं। विश्व के देशों में इस बात पर आम सहमति विकसित होती जा रही है कि विकास का अर्थ केवल मशीनों के द्वारा अधिक उत्पादन करना नहीं है। विकास अपने में साध्य नहीं है। विकास केवल साधन है। विकास का लक्ष्य मनुष्य है। विकास का उद्देश्य

ही मनुष्य की समग्र उन्नती है। मनुष्य की भौतिक सन्तुष्टि के साथ–साथ उसकी आत्मिक सन्तुष्टि भी हो सके, मनुष्य अपना जीवन सुखी बनाने के साथ–साथ उसे सार्थक भी बना सके। हमारी दृष्टि में विकास एवं प्रगति का लक्ष्य है– विश्वशान्ति तथा अन्तर्राष्टीय सद्भावना के प्रति समर्पित तथा प्रकृति जगत के संरक्षण एवं उसके प्रति मैत्री–भाव केलिए संकल्पित मानवीय भावना का विस्तार। इस प्रकार की भावना से मानव की मूलभूत भौतिक आवश्यकताओं एवं मानसिक आकांक्षाओं को पूरा करनेवाली एक न्यायसंगत विश्व–व्यवस्था स्थापित हो सकेगी।

ऐतिहासिक सर्वेक्षण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि साम्राज्य वृद्धि के लिए जितना नरसंहार किया गया उससे अधिक धर्म के नाम पर रक्तपात हुआ। कितनी विचित्र विडम्बना है, कितना विरोधाभास। जबकी विश्व का सांस्कृतिक इतिहास इस तथ्य की घोषणा करता है कि धर्म का लक्ष्य सुख और शान्ति की शश्वत स्थापना है। इन्हीं सब एकांकी विचारों के आधार पर आज लोग इस बात की घोषण पर लग गए हैं कि 'मानवता' के हित में धर्म का अन्त कर देना चाहिए।

धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष यह जीवन के चार पुरूषार्थ है। कहीं–कहीं अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष यह क्रम मिलता है। किन्तु धर्ममय अर्थ, धर्ममय काम से ही मोक्ष मिलता है। धर्मनिरपेक्ष अर्थ और काम हानिकार है। अतएव इन पुरूषार्थों में धर्म ही प्रथम सोपन है। शेष तीन क्रमशः अगली सीढ़ियाँ (सोपान) है। अर्थ और काम धर्म के सहायक हैं। धर्मरहित काम, और धर्मरहित अर्थ नरक के हेतु बनते है।

संस्कृति के प्रति दृष्टिकोण

राष्ट्रीय एकता की कड़ी अपनी संस्कृति के प्रति अनुराग का उत्पन्न होता है। अतीत सदैव सुनहरा होता है, इसलिए एक बार फिर से हम भारतीयों कों दधीचि शिवि, कर्ण के दान की महिमा तथा त्याग की महता समझनी होगी। संस्कृति के उत्स को अजस्त्र बहाना होगा। जो आज भी इस भारतीय भूमि में अन्तः सलिला सरस्वती के समान प्रवाहित हो रहा है। जिसने कन्याकुमारी से लेकर हिमालय की कन्दराओ तक के भारतीय जनों को एक सूत्र में आबद्ध रखा है।

भाषा की एकताः–

राष्ट्रीय एकता की दूसरी कड़ी भाषा की एकता। भारतीय संघ की एक मान्य शासकीय भाषा और जनता की एक भाषा होनी ही चाहिए। पारस्परिक ऐक्य के लिए भाषा की एकता से बढ़कर दूसरा सरल और सहज उपाय और कुछ नहीं। भारतीय संविधान के अनुसार हिन्दी भाषा को यह स्थान प्राप्त हुआ। इसलिए हिन्दी विकास तथा प्रसार तथा परम कर्तव्य है।

कर्मठताः–

राष्ट्रीय एकता को बनाए रखने के लिए तीसरी श्रृंखला कर्मठता है। बिना कर्मठता के जीवन तथा राष्ट्र खोखला हो जाता है, कर्म के महत्व को समझने के लिए पक्षपात, परिवार– पोषण या स्वार्थ–पराथणता तथा भ्रष्टाचार का उन्मूलन अत्यावश्यक है, 'आराम हराम है' का नारा जीवन में सार्थक होना चाहिए।

राष्ट्रीयताः–

राष्ट्रीय एकता की चौथी साधक श्रृंखला कदृर राष्ट्रीयता है। कदृर का अभिप्राय संकीर्ण से नही है, अपितु एक निष्ठता से है। प्रान्तवाद अथवा जातिवाद जैसी बातों के लिए उस राष्ट्रीयता में किसी प्रकार का स्थान न होगा। इसी प्रकार वर्गवाद, सम्प्रदाय तथा संकीर्ण परिधि वाला धर्म भी उस राष्ट्रीयता में सीमाबन सकेगा क्योंकि स्वतंत्रता का मूल्य न तो प्रान्तवाद है न जातिवाद है तथा न सम्प्रदाय ही और न संकीर्ण धर्म ही क्योंकि, स्वतंत्र रहने की कामना मानवशरीर के पोर–पोर में बसी हुई है, यहाँ तक कि मनुष्य गुलामी के स्वर्ग में रहनें की अपेक्षा आजादी के नरक में रहना पसन्द करता है। जननी–जन्मभूमि का महत्व स्वर्ग से भी बढ़कर है। तथा हम स्वराज्य सुरक्षित रखने के लिए प्रयत्न करते रहे इन तत्वों के सम्यक् चिन्तन और अनुशीलन से ही राष्ट्रीय एकता और स्वतंत्रता एवं हमारा राष्ट्र सुदृढ़ रह पाएगा।

जातिवादः अस्पृश्यताः उन्मूलन (जातिवाद):–

भारत में इस समय लगभग चार हजार जातियां और उपजातियां विध्यमान हैं। बहुत पहले केवल दो जातियाँ अथवा वर्ग हुआ करते थे जिन्हें आर्य और अनार्य नाम से जाना

जाता था। इन दो जातियों (वर्गों) के जाति–भेद वर्ण (रंग) पर आधारित थे और धर्म आगे चलकर किसी सीमा तक आचार–विचार पर आधारित हो गये।

गौर वर्ण उन्नत नासा, चौड़ा मस्तक और भरपूर ऊँचाई तथा तत्कालीन मानवीय समाज की तुलना में कुछ प्रगतिशील विचारों के लोगों ने स्वयं को आर्य जन का नाम दिया और अपनी इन विशेषताओं की तुलना में श्यामवर्ण, चिपटी नाक, तंग मस्तक तथा अपेक्षाकृत कम प्रगतिशील और अनार्यों को जातिमूलक संघर्ष हजारों नहीं, लाखों वर्ष तक चला, इतिहास और कुछ आज की मानवीय प्रवृतियाँ इस संघर्ष की साक्षी हैं।

मनुष्य ने अपनी कल्पना शक्ति के बल पर उन–उन स्थानों या प्रदेशों की संज्ञाएँ (नाम) बना डालीं। क्योंकि भाषा का विकास भी साथ–साथ चल रहा था, इसलिए जो लोग (आर्य–अनार्य) जहाँ–जहाँ निवास कर रहे थे उन स्थानों के आधार पर भी जातियों का निर्माण हुआ। इस प्रकार जातियों की संख्या में उत्तरोतर वृद्धि होती चली गयी और जातिमूलक संघर्ष भी उसी गति से व्यापक होता चला गया।

स्पष्ट है कि मनुष्य संख्या की साठोत्तरी के साथ–साथ व्यवसाय ने भी अनेक रूप धारण किये। कृषि उत्पादन से सबंधित अनेक नये व्यवसायों ने जन्म लिया। मानव की सौंदर्य प्रवृत्ति, अधिक सुख प्राप्ति की अभिलाषा ने मानवीय मस्तिष्क को इतना अधिक उर्वर बनाया कि अनेक प्रकार की गतिविधियाँ मानवीय जीवन का अंग बन गयी और ईश्वरोपासना से लेकर भौतिक जीवन के लिए आवश्यक कई नये, कार्य–कलापों की सृष्टि हुई, किसान, ग्वाला, रखवाला, लोहार, सुनार, धोबी, नाई, जुलाहा, दर्जी, मोची, भंगी आदि कितने हो वर्गों में मानवीय समाज अपने–अपने काम के आधार पर विभाजित हो गया।

वर्तमान भारत में विद्यमान लगभग चार हजार जाति–उपजातियाँ, इन्हीं वर्ण (रंग) स्थान, व्यवसाय की नींव पर आधारित हैं। जातियों की इस अधिकता ने मनुष्य में उसके कार्य के संबध में, एक हीन प्रकार की घृणा को जन्म दिया और यह घृणा इतनी भयंकर रूप में हमारे समाज में घुसी और फैली कि मनुष्य मनुष्य से अलग होने में गौरव अनुभूति करने लगे और दूसरी और जिससे घृणा की जाने लगी वह अपने को हीन भावना मे लपेट कर इस प्रकार दूर होने लगा जैसे वह सचमुच ही ईश्वर ने अस्पृश्य बनाकर भेजा हो ब्राहमण, श्रत्रिय, वैश्य, शूद्र यह चारों एक हैं। हम सब शूद्र हैं यदि हममे क्षुद्रता है, हम सब

क्षत्रिय है यदि हममें वीरता है हम सब एक हैं, समान हैं यदि हममें कुछ भी भेद–भाव हैं तों वह समाज दूवारा निर्मित हैं, ईश्वर का उसमें लेशमात्र भी योग नहीं। यदि मनुष्य होकर मनुष्य से घृणा जारी रहती है तो फिर मनुष्य से जीव–जंतु बेहतर हैं जो जातिवाद अथवा अस्पृश्यता व्याधि से उन्मुक्त हैं।

साम्प्रदायिकता

साम्प्रदायिकता शब्द यद्यपि हमारी सामान्य बातचीत में पर्याप्त प्रसिध्द हो चुका है, कितु साम्प्रदायिकता शब्द का ठीक अर्थ वे सब व्यक्ति शायद ही जानते हों, जो बहुधा इस शब्द का प्रयोग करते रहते हैं 'साम्प्रदायिकता' शब्द सुनने में जितना गम्भीर है उसका शाब्दिक अर्थ भी उतना ही गम्भीर है।

जातीय साम्प्रदायिकता का जन्म तो संभव है कि जातियों के निर्माण के साथ ही उत्पन्न हुआ होगा। विशिष्ट और विश्वामित्र द्वेष भावना जगत सिध्द है। परशुराम और लक्ष्मण के सीता स्वयंवर के संवाद इसी जातीय भेदभाव के घोतक हैं। वास्तविकता तो यह है कि जातीय साम्प्रदायिकता ने हमारी संस्कृति और हमारी राष्ट्रीय एकता को जितना दुर्बल बनाया है उतना अन्य किसी बात में नहीं। मौर्यों से पूर्व और अनन्तर इसी जातीयता ने भारत में विदेशियों को आमंत्रित किया।

धार्मिक भेदभाव भी देश की एकता और निर्माण के लिए कम खतरनाक प्रमाणित न हुआ। शैव, वैष्णव, शाकता आदि धार्मिक संप्रदायों के अनुयायी आज तक परस्पर लडते–झगड़ते देखे जाते हैं। वैष्णव शैवों के दर्शन तक में पास समझते हैं। द्वैतवादी और अद्वैतवादी बराबर अखाड़ाबाजी करते रहे हैं। परिणाम जो होना था वही हुआ अर्थात् जातीय संकीर्णता और 'फूट' का फल देश को दिया। ज्ञान संकीर्ण बन कर अज्ञान में परिणत हुआ, स्त्रतंत्र देश परंतत्र बना।

वर्गीय भेदभाव केवल हमारे देश की समस्या नहीं है, अपितु संपूर्ण विश्व की समस्या है। वर्ग में मेरा अभिप्राय निर्धन और धनिक वर्ग से है। इस समस्या में आज संपूर्ण मानव–जाति के दो भागों मे विभक्त कर दिया है। सारा संसार आज दो गुटों में बांट गया

है। इसलिए निर्धनता से युध्द करना और संपन्नता को लाना वर्गीय भेदभाव के विनाश के लिए आवश्यक है।

देश की तनाव राजनीतिक पार्टियाँ इस देश के निर्माण और समृध्दि के लिए बनी हैं। इसलिए देश को पार्टी के लिए न्योछावर नहीं किया जा सकता। अलबत्ता पार्टी को देश के लिए न्योछावर किया जा सकता है। जाति, धर्म, प्राँतीयता का नाश करने वाला प्रत्येक व्यक्ति देश का दुश्मन है। जातीयता का रूप तो आज सर्वथा संकीर्ण ही हो गया है, किन्तु धर्म निरपेक्ष राष्ट्र में संकीर्ण धर्म भी उतना ही खतरनाक है जितना घर की जासूसी करनेवाला घर का ही जासूस राष्ट्र की एकता और अखंडता के लिए प्रांतीयता का त्याग भी आवश्यक है। विशाल भारत के सर्वांगीण उत्थान में ही प्रांतो की उन्नति का बीज भी निहित है। इसलिए सिकुडे मस्तिष्को को फैलाना होगा। भेदभाव के इस नाग का प्रेम की बांसुरी के स्वर सुनाकर वशीभूत करना होगा। निर्माण की घडियाँ अमूल्य होती हैं। इसलिए हमारी पूजा, हमारा धर्म, हमारी जाति भारत की सेवा, भारत का निर्माण और भारतीयता है। यहीं भेदभाव को दूर करने का सरल उपाय हो सकता है। जिस दिन हम यह कर दिखाएँगे, व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र सब भ्रान्तियों से मुक्त होकर वास्तविक रूप में स्वतन्त्र हो जाएगा। वह अपने अधीन होगा, अपने तन्त्र शासन, नियम अनुशासन के अधीन होगा।

वस्तुतः विद्या–शिक्षा मनुष्य, समाज और राष्ट्र को वास्तविक रूप में स्वाधीन और स्वतन्त्र बनाती हैं विवेक शून्य नहीं। किसी भी प्रकार की रिक्तता देह –दाई होती है और फिर शिक्षा विवेक की रिक्तता तो मृत्युदाई ही होती है, अतः आज आवश्यकता विवेक की रिक्तता को पूर्ण करने की है। समय की रिक्तता, सामाजिक रिक्तता तथा राष्ट्रीय रिक्तता यदि थोड़ी भी कहीं रह गयी तो यह हमें भारी हानी पहुँचा सकती है, अतः जगेंगे! रिक्तता को भरो!!! शिक्षा का उद्देश्य पूर्ण होना चाहिए, अनुशासन की रिक्तता मिटनी चाहिए।

4.4 संस्कृति और धर्म

संस्कृति का धर्म के साथ गहरा जुड़ाव है। यह जुड़ाव इस प्रकार का है। धर्म अपने विस्तृत अर्थों में संस्कृति के समान है। उससे बाहर भी है तथा संकुचित अर्थ में उसका महत्वपूर्ण अंग बनता है। जहाँ धर्म आन्तरिक अनुभूतियों के महत्व को प्रकट करता है जहाँ

जिससे जीवन के अर्थ और उद्धेश्य का ज्ञान हो। वह संस्कृति की मूल आत्मा है। किन्तु जहाँ धर्म का प्रयोग बाह्य रूप में होती है। जिसमें आन्तरिक अनुभूतियाँ प्रतिबिम्बित होती हैं, वह संस्कृति का एक अंश मात्र रह जाता है। धर्म उच्चतम सत्य की आन्तरिक उपलब्धि के रूप में संस्कृति का सहचर होती है, इन दोनों के बीच टकराव की स्थिति तथा बनावटी है। जब वास्तविक धर्म अपनी पतनशीलता की और अग्रसर होती है और उसमें उन नैतिक मूल्यों का क्षरण हो जाता है जो उसे हास के मार्ग की और ले जाती है।

धर्म और दर्शन

संस्कृति का मुख्य आधार धर्म है। भारतीय लोगों ने ब्रह्माण्ड की हर वस्तु को प्रकार का उपहार मानकर उसे स्वीकार किया और उसमें उसने देवत्व का आरोपण कर डाला। मानव ने उसे प्रसन्न करने के लिए स्मृतियाँ की और उसकी संतुष्टि के लिए यज्ञ एवं हवन के विधान रचे। वैदिक काल में इन्द्र, अग्नि, वरूण, सूर्य, उषा, रूद्र, मरूत, वृहस्पति, सोम, समुद्र, गन्धर्व, अप्सराएँ, वन वृक्ष, पर्वत, पशु आदि को देवता के रूप में प्रतिष्ठा की चुकी थी। धीरे–धीरे देवताओं की संख्या 33 से बढ़कर 33 करोड़ तक पहुँच गयी। श्रध्दा और आदर का यह भाव ही आगे चलकर काव्य, साहित्य, मूर्ति, चित्र, वास्तु दृ–निर्माण, संगीत एवं नृत्य आदि में दिखायी पड़ा।

भारतीय आचार–व्यवहार में अपने बड़ों का आदार कैसा प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। अपने घर में बड़े सदस्यों, माता, पिता, वृध्दजन आदि के साथ–साथ समाज के भी बड़े बुजुर्गों को लोग पर्याप्त आदार सम्मान देते रहे हैं। यही नहीं अपने मृत पूर्वजों के प्रति भी भारतीय लोग श्रध्दा एवं आदार रखते आ रहे हैं। भारतीय परम्परा में हर जीवधारी को प्रकृति की विशिष्ट संरचना स्वीकार करते हुए पर्याप्त सम्मान दिया जाता रहा है। पशु–पक्षी हो या पेड़–पौधे सबको धर्म के साथ जोड़कर उनके संरक्षण की विलक्षण व्यवस्था प्राचीन भारतीय मनीषियों ने की। बैल, सिंह, मोर, हंस, उल्लू, बन्दर से लेकर चूहे तक की पूजा–आराधना होती आयी है। इसके मूल में कहीं न कहीं मान्यता भी रही है कि देवता मृव्युलोक में पशु– पक्षियों के रूप में विचारण करने के लिए आते रहते हैं। पुनर्जन्म की अवधारणा को यह परिकल्पित किया गया है कि प्रथ्वी पर 84 लाख योनियाँ हैं। मनुष्य

अपने कर्म के अनुरूप इन 84 लाख योनियाँ में जन्म लेता रहता है। दार्शनिकों ने पशु–पक्षियों में मनुष्य के समान ही आत्मा परिकल्पना की है, जिससे लोग सहज ही इन पशु–पक्षियों को सम्मान प्रदान करते हैं।

पेड़–पौधे न केवल पृथ्वी को हरा–भरा रखते हैं अपितु वे जीवन के प्रमुख आधार हैं। इनके बिना जीवन की कल्पना तक नहीं की जा सकती। प्राचीन भारत के मनीषियों ने इनमें भी मानवोचित अनुभूति को आरोपित करके इन्हें समुचित प्रतिष्ठा प्रदान किया है।

दर्शन

भारतीय दार्शनिक परम्परा में आत्मा का सम्बन्ध परमात्मा से जोड़ा गया है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य यह समझता है कि मैं अकेला और अविच्छिन्न नहीं हूँ बल्कि मेरा सम्बन्ध परमात्मा से हैं और परमात्मा सबके लिए समान दृष्टि रखता है। इसी तर्ज ब्रह्म एवं जीव की अवधारणा भी परिकल्पित की गयी है। इसी के आधार पर सहिष्णुता, सदूव्यवहार और शिष्टाचार की नींव पड़ी है और मानव मानव के बीच प्रेम भाव का उदय हुआ है।

भारतीय दर्शन के अनुसार मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य मुक्ति प्राप्त करना है। मुक्ति प्राप्त होने तक मनुष्य इस लोक में बार–बार जन्म लेता है और प्रत्येक जीवन में भरपूर प्रयत्न करते हुए अपनी मुक्ति की और अग्रसर होता हैं। मुक्ति प्राप्त करने के लिए मनुष्य को सदूकर्म करना आवश्यक होता है और इस अवधारणा से वह प्रत्येक जीवधारी के साथ उदारता एवं शिष्टाचार का व्यवहार करता है। वह मृत्यु की भयावहता से नहीं डरता अपितु उसे नवजीवन का प्रारम्भ मानकर उसे भी उत्साह से स्वीकार करता है। इस प्रकार भारतीय जीवन का समस्त उपक्रम दृढ़ और ठोस भावभूमि पर अवस्थित है।

4.5 "गोबरगणेश" उपन्यास में सांस्कृतिक और सामाजिक चित्रण

गोबरगणेश उपन्यास में भी उपन्यासकार ने संस्कृति का वर्णन इस प्रकार लिखा है कि बच्चों के प्रति ममता भाव माँ से ही शुरू होता है। "बालक कुछ नहीं समझ रहा है, वह अपनी माँ का भक्त है। माँ की तारीफ सभी करते हैं, पिता की तारीफ कोई नहीं करता।

औरतें जिस तरह अपने बच्चों को प्यार करती हैं, वैसे उसके बाबू तो वहीं करते। माँ रोज अपने साथ मन्दिर ले जाती थी।"....1

विनायक हमेशा अपनी माँ से समय बिताता है, माँ भगवान की परमभक्त थी। इसलिए उसका असर विनू पर पड़ता है, इसलिए भगवान अलूलीया का भक्त बन गया। सिर्फ जाडों में एकाध हफ्ते के लिए इस शहर में दिखाई देते हैं। विनायक को उनके बारे में बेहद कौतूहल है। अब कौतूहल ज्यादा बढ़ जाता है, क्योंकि बाबा उसे कैलाश पर्वत के बारे में, वहाँ तक की यात्रा के बारे में विस्तार से बताते हैं।

परिवार में बच्चों के लालन–पालन के मुख्य सिध्दांतों का काफी हद तक पर्याप्त वर्णन होने की वजह से उसकी संस्कृति का महत्व बढ़ जाता है। इन सिध्दांतों में बच्चों के व्यक्तित्व के प्रति सम्मान, बच्चों के स्वास्थ्य की देखभाल, उनके सामंजस्यपूर्ण शारीरिक विकास, खेल, श्रम, भौतिक और आध्यात्मिक आवश्यकताओं का संगत मेल, वयस्कों के वास्तविक सम्मान से बल प्राप्त करने की प्रवृत्ति और परिवार में भावनात्मक सुख के वातावरण की रचना करना शामिल है। वैसी ही संस्कृति आगे बढ़ती है। परिवार में बच्चों का लालन–पालन जैसे नाजुक और पेचीदा हो रहा है।

यह नितांत स्वाभाविक है। सभी माता–पिता अपने बच्चों को सुखी देखना चाहते हैं। लेकिन उनमें से सभी लोग यह नहीं समझते कि सुख, सबसे पहले, वैयक्तिक और सामाजिक के बीच सामंजस्य है, और यह सामंजस्य एक दीर्घकालिक, कुशलतापूर्ण तथा कष्टसाध्य लालन–पालन के जरिये ही हासिल हो सकता है। लालन–पालन को मानवीय श्रम की एक विशेष और जटिल किस्म मानने के लिए सभी लोग तैयार नहीं होते हैं। कुछ लोग किसमत अथवा सुखद संयोग की उम्मीद लगाके बैठे होते हैं। कुछ यह कारण नहीं है, क्योंकि उन्हें पहले से ही अनेक काम करने होते हैं। माँ–बाप अपने बच्चों का पालन करने के लिए भविष्य में अपने वयस्कों में अपने बच्चों के पालने में चले जाते हैं, यह कैसे संभव है?

विज्ञान के अनुरूप बच्चों के लालन–पालन का पहला अर्थ है परिवार में दैनिक जीवन का विवेक सम्मत संगठन। परिवार एक जीवित सामाजिक संगठन होता है और इस संगठन की हर खराबी, अनिवार्यतः लालन–पालन पर प्रभाव डालती है। झगडे और

मिथ्यापवाद, माता या पिता के प्रति निरादर, घरेलू जीवन में अव्यवस्था, सुव्यवस्थित प्रणाली का अभाव और लापरवाही बच्चों के चरित्र पर गहरी और तीक्षण छाप डालती हैं। नादान लोग ही यह विश्वास करते हैं कि अव्यवस्था और झगडों से भरे पारिवारिक वातावरण में एक स्वस्थ व्यक्ति की रचना हो सकती है, ऐसे वातावरण में एक अच्छे व्यक्ति का लालन–पालन किया जा सकता है। ऐसी कोई भी शिक्षा–वैज्ञानिक इलाज नहीं है, जो पारिवारिक जीवन की गलतियों का आरंभिक रूप से भी, प्रतिपूर्ति कर सकता हो।

उपन्यास में विनू और सरो (विनू का बहन) इन दोनों का मार्गदर्शक जगन काका हैं। वे हमेशा बच्चों को अपने भविष्य के बारे में, और हमारी संस्कृति जैसे आदि बात पर बोलते रहते हैं। जगनकाका नौकरी के लिए इलाहाबाद जाने की तैयारी कर रहे हैं। बच्चे दोनों रोने लगते हैं, तब वे उन्हें समझाते हैं कि, "पहले विद्या कमाने के लिए गया था, अब पैसा कमाने जा रहा हूँ। जब मेरे पास खूब पैसा हो जाएगा, तब मैं तुम्हारे लिए खूब सारी चीचें लाऊँगा और खूब पैसे दूँगा। तब तुम्हें किसी चीच की कमी नहीं रहेगी।"....2

यहाँ उपन्यासकार जगनकाका के द्वारा हमारी संस्कृति का परिचय देते हैं। बच्चों को छोटी उम्र से ही सही रास्ते पर ले जाना हर माता–पिता का कर्तव्य है। जैसे यहाँ जगनकाका अच्छे मार्गदर्शन के रूप में आते हैं। माता–पिता का प्राधिकार सुसंगठित पारिवारिक जीवन को सुदृढ़ आधार पर टिका होता है। कई लोग यह विश्वास करते है कि लालन–पालन के एक साधन के रूप मे प्राधिकार को, खासतौर से बच्चों के लिए, कृत्रिम रूप से बनाया जा सकता है। इस दृष्टिकोण के विरूध्द विश्वास तर्क पेश करते है। वास्तविक जीवन के विषद उदाहरणों के आधार पर वे यह दर्शाते है कि बच्चे प्राधिकार की समस्या को समझते हैं, और कभी–कभी वयस्कों से ज्यादा अच्छी तरह से समझते हैं। प्राधिकार के प्रश्न में किसी भी मिथ्याकरण को, किसी भी कृत्रिमता को बच्चे तुरंत उद्‌घाटित कर देते हैं और हमेशा सही ढंग से करते हैं।

अपने बच्चे के साथ किसी भी तरह के सम्बन्धों के बावजूद, प्राधिकार को स्वयं माता–पिता में ही अंतर्निहित होना चाहिए, लेकिन यह किसी भी हालत में कोई विशिष्ट प्रतिभा नहीं होती है। इसकी जडें हमेशा एक ही स्थान पर पायी जाती हैं– माता पिता के व्यवहार में और इसमें व्यवहार के सभी पक्ष शामिल हैं। दूसरी ओर माता तथा पिता दोनों

का सम्पूर्ण जीवन, उनका कार्य, विचार, आदतों, भावनाओ और प्रयत्न। सफल परिवार में लालन–पालन की एक सबसे अधिक महत्वपूर्ण शर्त है। बच्चों की आवश्यकताओं का सही नियमन करने की, माता–पिता की क्षमता बच्चे की हर सनक को उसकी जरूरत नहीं समझना चाहिए।

4.6 'विनायक' उपन्यास में सांस्कृतिक और सामाजिक पक्ष

गोबरगणेश उपन्यास की उत्तर कथा है विनायक उपन्यास। नायक विनायक भाषा विभाग में बहुत बड़े प्राध्यापक है। उसके साथ काम करनेवाली, विनायक की अच्छी दोस्त थी। शकुंतला उर्फ मिसेज दुबे उपन्यास में मुख्य नारी पात्र है जो ऊँची चिन्तनवाली है, वह हमेशा सकारात्मक ढंग से सोचती है। विनायक अपनी पत्नी मालती से हमेशा इसकी तुलना करते रहता है। वह ऐसा अनुभव करता है कि सकारात्मक का प्रभाव है। इस बात को कि मिसेज दुबे के मन में उसकी जो इमेज है वह कितनी ऊँची है। उसके अपने खुद के आत्मबिंब से कहीं बेहतर .....। जैसा सहारा और जैसी गुणी उसके ईगो को किसी जमाने में मालती से मिला करती होगी, वैसी अब इस शकुंतला उर्फ मिसेज दुबे नाम की महिला से ही मिला पाती है, और उससे कहीं ज्यादा दृष्टि देनेवाली, क्योंकि शकुंतला से उसका संबन्ध केवल भावना से नहीं, बल्कि बुध्दि से है, बौध्दिक ऊँचाई से। जो कहीं ज्यादा सुरक्षित जगह है, आदमी के ईगो को टिकाने और चमकाने के लिए। ऐसा सहारा, ऐसा ईगो सेंटर जरा भी इधर से उधर सिसकने न पाया। इसका भरपूर जतन करना होगा कि नहीं? क्या इसलिए, इसी कारण विनायक शंकुतला से अपने संबंध को लेकर शुरू से ही कुछ अतिरिक्त सतर्कता और अतिरिक्त सावधानी भी नहीं बरतता आया है? इतनी चतुर, सयानी और विलक्षण विदुषी स्त्री से ऐसे घिसे–पिटे जवाब की कतई उन्नति नहीं थी। मालती भावप्रदान स्त्री और शकुंतला बुध्दिप्रदान स्त्री है।

इस तरह विनायक और शंकुतला के बीच मित्रता भाव चल रहा था। दोनों कभी–कभी अपने–अपने मन को खोलकर बात करते हैं। विनायक का परिवार छोटा सा परिवार है। पत्नी मालती दो लड़के, मालती इतनी सख तजान और अनुशासनप्रिय माँ है। माँ से कहीं ज्यादा पिता का रोल निभाया है उसने, सच में। तब फिर बच्चे ही उसकी

चिंता के केन्द्र में नहीं होंगे तो और कौन होंगे? बच्चे और उसका वह सोशल वर्क..... जिसे वह आश्रम कहती है और, जिससे विनायक को कुछ लेना–देना नहीं। बच्चों ने भी एक बार शिकायत की कि माँ के व्यवहार आदतों से परेशान है। विनायक ने जवाब दिया कि :

"ठीक है बेटा, तुम फिकर मत करो। हम ध्यान रखेंगे आगे से।"....3

मगर लाभ क्या? मालती ने उसे यह अहसास कराया, अपने अलग होने का अहसास? किसी भी परिवार तो सहज रूप में स्वीकार करने के लिए पहले से कुछ मानसिक तैयारी तो होनी चाहिए कि नहीं?

विनायक की दूसरी नजर है माग्रिट। माग्रिट.....माग्रिट। विनायक बुद्बुदा रहा है। उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि, उसकी स्वप्न–सुंदरी नहीं हकीकत। वह किसने कहा कि सत्य कल्पना से भी ज्यादा विचित्र हुआ करता है, किस कदर सच है। जिस सुख की जिस साहचर्य की कल्पना तक नहीं कर सकता विनायक अन्यथा, वह कैसे विधाता के वरदान की तरह.....अलक्षय वरदान की तरह..... अनायास ही उसकी मुट्टि में आ गया था। वह भी परदेश में। लेकिन माग्रिट को जीवन की वास्तविकता मालूम पड़ती है, इसलिए वह कहती हैं और समझाती है कि मेरी दुनिया अलग तुम्हारी दुनिया अलग, मेरी दुनिया से तुमको मतलब नहीं तुम्हारी से मुझको। विनायक के जीवन में माग्रिट की जगह खतम हो गयी।

चंदू का खत देखकर विनायक को अपने बचपन की दोस्त की याद आयी कि, अब तुम्हारी भाभी मेरी तरह इस खेल को न देखती है, न समझती है, मेरे बच्चे समझदार हैं चंदू। मेरा दर्द भी वे बेशक अपने ढंग से अपनी ही पढ़ाई दृ–लिखाई के जूते समझते होगी जमाना बहुत खराब है चंदू। वह अपने मन के अंदर दुख को महसूस करता है। सब का कारण अहं, इलाज इसका होता है, जिसे रोग की तरह पहचाना और कबला जा सके। यहाँ सबका अहं बोलती है, कोई किसी से कम नहीं, कोई गलत नहीं, कोई किसी के सामने दृ–यहाँ तक कि खुद अपनी सहज बुध्दि का मन सेंस के सामने भी झुकने को तैयार नही। सबको अपनी बुध्दियों पर ही कायम रहना पड़ता है। कोई किसी के लिए सहमती क्यों? सहमती सहानुभूति कौन किससे करे? यहाँ सब बराबर है। बराबरों के

बीच समझौता कैसा? भले बराबरों में भी हमेशा ही कोई कम बराबर और कोई ज्यादा बराबर होता रहे। यह कोई ऊँच दृनीच थोडी है, भेद बुध्दि भी थोडी है। विनायक के जीवन में यह एक बढ़िया समस्या है। पति–पत्नी दोनों अपने अपने अलग–अलग रास्ते में हैं। इसलिए बच्चों का भविष्य क्या होगा, यह सोचनीय बात है विनायक को। वह बहुत समझ इसके बारे में बात किया। मालती से, इस वक्त तो हमें उनका मनोबल बढ़ाना है, हौसला बढ़ाना है, प्रसन्न मन से उन्हें साथ रखना है, ताकि वे हमारी ओर से विरक्त हो जाएँ। इतनी दूर, अपनी जिंदगी सवारने में लगे। कितना परिश्रम करना है। उन्हें जरा उनकी तरफ से सोचके तो देखो। हमी ऐसा करेंगे तो बेचारे कैसे मन लगा के अपनी पढ़ाई कर पाएँगे? .....अरे यह हमारे बीच का झगडा है। ऐसे झगडे तो होते ही रहते हैं। किस घर में नहीं होते?.....और ....इसमें ऐसी क्या मुसीबत आ गई? कभी मैं तुम्हें नहीं समझ पाता, कभी तुम मुझे नहीं समझ पाती। हम दोनों एक दिन विपरीत पृष्टभूमियों की उपज है तो हमारी आदतें अलग अलग होंगी ही। तो भी..... हमने हर तरह के सुख–दुख साथ–साथ रहके मिले–जुले हैं कि नहीं? बहुत सारे भेदभाव हैं हमारे बीच, तो क्या हुआ? बहुत सारी मिलती–जुलती बातें भी तो हैं। बिना आपसी मेल–जोल के प्रेम और विश्वास के क्या ऐसे ही निभ गई हमारी जिंदगी?

मालती के अनुसार किसी से विचार किसी से भी सहमती नहीं करना, अपने जीवन के लिए स्वतंत्र है। विनायक के अनुसार स्त्रियों को पारिवारिक शैली होना चाहिए। यह परेशानी है विनायक के जीवन में, मगर मालती की दुनिया और सोच अलग है, उसके मन मे संदेह आया कि दुनिया और सोच अलग है, उसके मन में संदेह आया कि कौन है यह आदमी उसके बच्चों का पिता मात्र है। नहीं–नहीं। यह तो विनायक नहीं है। फिर कौन है?

मालती के मन में ऐसे अनेक विचार हो गये, अब मुझसे सहा नहीं जाता। ऐसे साथ रहने से तो अच्छा है, एक बार में अलग ही हो जाएँ। तुम वहाँ जाओ, जहाँ तुम्हें प्रेम मिलता हो। तुम्हारी आरती उतारी जा रही है। मैं तो पत्थर हूँ। मेरा यह जन्म तो तुम्हारे गीले शिकवे ढोने और तुम्हारे बच्चों को पालने में ही खत्म हो गया। तुम्हें पहचानने में मुझसे बड़ी भारी भूल हुई। तुम पति और पिता होकर भी अपनी कुंठाओं को पोसने और

मनमानी करने को आजाद हो। मैं पत्नी और माँ होकर भी तुम्हारे खूँटे से बँधी रहूँ यही न तुम चाहते हो? मेरी अपनी कोई इच्छा न हो, मेरा मन भी पसंद–नापसंद हो– यही न थी, यही नहीं तुम्हारे लिए तुम्हारे प्रेम और तुम्हारे पुरूष की परिभाषा और कसौटी, जिस पर मुझे खरी उतरना चाहिए था और मैं खरी नहीं उतरी। यही न तुम मुझे दिन–रात जताते रहे हो? ३३३ तो, विलम्ब से ही सही, मेरे सामने भी तुम्हारी असलियत आखिरकार उघड़नी ही था और उघड़ गई। तुम भी मेरी कसौटी पर खरे नहीं उतरे, निहायत खोटे साबित हुए।

यह है उनके परिवार में दोनों अपनी–अपनी नजर से देखते हैं। सच में परिवार मतलब चार आँखों में एक ही दृश्य होना चाहिए। इसलिए, मतलब अपनेपन के बीच में दूरी उत्पन होती है। अंत में विनायक जोर से बताता है कि,

"मालती, तुम्हारी असली प्राब्लम तुम्हारा ईगो है, और कुछ नहीं। इस समय विनायक का एक मात्र समाधान है, शकुंतला, वह हर एक विषय को उनके साथ विचार करती है। सच में आजकल विनायक का इलाज है शकुंतला। दूसरी तरफ शकुंतला के आने के बाद विनायक के गुण में बहुत सारे परिवर्तन आये, वह मालती का विचार फैसला बढ़ता है। तभी मालती को पता चलता है अपना स्थान, वह असली पुराने विनायक को चाहती है, इसलिए वह शकुंतला को चिट्ठी लिख रही है कि बस तो खुश रहना मेरी जान। और मुझको तथा अपने सर को भी इसी तरह खुश रखना।"....4

मगर विनायक के मन में पूरा स्वप्न है, वह मालती और शकुंतला दोनों की तुलना करता है, और बाद यह है कि वह गर्मियों के दिन में शकुंतला के साथ अलमोड़ा में समय बितना चाहता था। और दूसरी तरफ उसको नजर आता है कि हिन्दूस्तानी संस्कृति मगर मेरे मन में कैसे? पाश्चात्य प्रभाव आया मगर..... शकुंतला, शकुंतला तो मालती नहीं है, शकुंतला माग्रिट भी नहीं है। शकुंतला क्या है, यह क्या शकुंतला भी जानती है वह कुछ अलग ही धातु की बनी है। किस धातु की बनी है। किस धातु की बनी है यह मुझे अब जाकर कुछ कुछ समझ में आ रहा है और इस समझ के कारण उसके प्रति मेरी जो भावना आज तक रही आई उसमें कुछ ऐसा भी जुड़ गया है जिसे मैं खुद ही पारिभाषित नहीं कर पाता। इस बीच में विनायक का विनोद सेमिनार के लिए विनायक को आमंत्रण

मिला। विनायक को यह अच्छा मौका है कि पुराने दोस्तों से मिलने का, और माग्रिट से मिलने के लिए इसलिए वह माग्रिट को पत्र लिखता है सेमिनार में आने के लिए, मगर माग्रिट तैयार नहीं थी। वह जीवन की वास्तविकता को साफ–साफ कर विनायक को समझाती थी। शकुंतला के साथ समय बिताने का और पुराने दोस्तों से मिलना, वह दिनभर स्वप्न में हैं।

अचानक एक दिन विनायक की तबीयत ठीक नहीं थी, मालती और शकुंतला दोनों उसकी सेवा करती हैं। विनायक की नजर में मालती इनसाइटर और शकुंतला आउटसाईडर। शकुंनतला के व्यवहार से पता चलता है कि विनायक का यह सेमिनार का स्थान एक चुम्बकीय क्षेत्र हो गया। उपन्यास में इस जगह में वैश्वीकरण का अच्छा उदाहरण हम देख सकते है क्योंकि विभिन्न स्थान से विभिन्न दोस्तों का मिलन सबको भी अपने आपको दिखाता था। सब दोस्तों को अपने बचपन की याद आयी।

विनायक के मन में सेक्स आँन द माईड एड़ फियर इन दि हार्ट। मगर एक क्षण वह जीवन की असली याद और हमारी संस्कृति को सोचा था, इसलिए एक निर्णय आया, मालती मेरी पत्नी है। आखिरी दिन सेमिनार में उसने सृजनात्मक भाषण दिया, संस्कृति, समाज, धर्म और राजनीति पर चर्चा की। उपन्यासकार रमेशचन्द्र शाह ने इस उपन्यास द्वारा नायक विनायक के माध्यम से जीवन तत्व और संस्कृति को दिखाया है।

साहित्य आकदमी पुरस्कार पुरस्कृत इस उपन्यास का प्रकाशन सन् 2010 में प्रकाशित हुआ था। नायक विनायक बचपन से ही अपने दोस्तों के साथ समय बिताता है। बड़े होने के बावजूद भी अपने जीवन और जिम्मेदारी से वंचित होता, अपना दोस्तों के साथ समय बिताता है, उसमें थोड़ा–सा बदलाव क्या है कि दोस्तों के साथ फोन में समय निकालता है।

नौकरी करने के लिए परिवार के साथ वह विदेश चला जाता है। फिर भी उसके मन में दोस्तों की याद और गाँव, वहाँ का त्योहार मेले की याद आती है। इसलिए विनायक और पत्नी मालती के बीच में भेदभाव आता है। यहाँ नायक विनायक के द्वारा उपन्यासकार ने अच्छे ढंग से भारतीय संस्कृति और समाज का वर्णन किया है। विदेश में रहने के कारण पत्नी मालती पर पाश्चात्य शैली, भाव संस्कृत का पड़ा है।

"क्यों क्या हुआ? इतनी सुबह फोन करने का क्या तुक था? अरे कुछ नहीं। वहाँ स्नोफॉल हो रहा है, यही मुझे बताने को।"....5

इसमें बताने की क्या बात थी? – पहाड़ है तो विंटर

सीजन है तो स्नोफॉल भी होना ही है।

मालती की यही आदत अखर जाती है, वह हर चीज में तुक ढूँढने की।

और क्या कह रहे थे तुम्हारे दोस्त? आखिर आधी रात को कोई फोन करता है तो सिर्फ यह बताने को तो नहीं कर सकता कि बर्फ गिर रही है।

विनायक जवाब देता है, मालती तुम्हें तो पता ही है, लच्छू मेरे बचपन का दोस्त है। सबसे घनिष्ठ हम लोग–स्नोफॉल को बहुत एनजाय करते थे। तुम्हें अनुभव नहीं था, कैसा रोमाँच होता है वह दृ–पहली पहली बर्फ देखने का।

इच्छा ही जीवन की धुरी है तो अनुचित न होना। जिस मनुष्य में कोई इच्छा नहीं होती वह निष्प्रभाव, निष्प्रयोजन एवं निष्प्राण एक जीवित लाश बनकर रह जाता है। अतः संसार में शायद ही कोई ऐसा मनुष्य मिले जो किसी–न–किसी प्रयोजन न इच्छा से सम्बन्ध न हो। वैसे, इच्छा तो मनुष्य के जन्म के साथ ही पैदा होती है। जन्म के तुरन्त पश्चात् बच्चे में अपनी माँ की ममतामयी उष्मा के प्रति प्राकृतिक इच्छा जागृत होती है। उसके स्तनपान की इच्छा, अच्छे–अच्छे खिलौनों की इच्छा, चमकीले–भड़कीले कपड़ों व आभूषणों की इच्छा। स्वादिष्ट मिठाइयों की इच्छा, स्कूल जाने योग्य हो जाने पर पढ़ने अथवा नहीं पढ़ने की इच्छा। अच्छे नम्बरों से पास होने की इच्छा, मित्रों के साथ सैर–समारना या गप–शप करने की इच्छा। ऐसी इच्छाएँ समय–समय पर बदलती रहती हैं। कितनी उमर होने पर भी, परिवार ऐसे होने पर भी अपने दोस्तों के साथ मिलने पर हम सब बच्चे हो जाते हैं। विनायक अपने बचपन के स्मरण में, सोचता था, कि वे लोग बचपन में स्याही देवी और बानड़ी देवी और देवथल और कायारदेवी और जाने कहाँ–कहाँ भटकते थे। वह स्नोफॉल देखना चाहता था। नहीं आ सकता तो शिवरात्री और होली में बाल–बच्चों के साथ बिताना चाहता था। परिस्थिति परिवेश, स्वभाव..... सभी कुछ तो अलग था। मनुष्यों के बीच कौन–सा संबंध सर्वश्रेष्ठ है, तो मैं बिना दुविधा के कहूँगा कि मित्र का संबंध ही सर्वश्रेष्ठ है। हमारे जीवन में कुछ ऐसे विषय या कुछ ऐसी बातें रहती है

जो पिता, माता भाई, बहन स्वामी इत्यादि किसी से नहीं कही जा सकती, किन्तु मित्र को बताया जा सकता हैं। मित्रों के बीच सरलता ही एकमात्र प्रधान बंधन है। यह सरलता जहाँ नहीं हो, वहाँ मित्रता भी नहीं है, सच में जीवन में एक वास्तविक मित्र का मिलना सौभाग्य की बात है। मित्र पर हमारी गंभीर आस्था रहती है। उसे अन्दर की बातें बताकर हम हलका महसूस करते हैं, उससे परामर्श लेते हैं। उससे एकमात्र सहारा होता है क्योंकि हमारा विश्वास हमारे मित्र पर ही रहता है, इसी दृढ़ विश्वास के आधार पर ही हम ईश्वर को भी दीनबंधु कहकर पुकारते हैं, ऐसा बंधुहीन जीवन अंधकारमय है। मित्रों के बीच एकात्मबोध का एकमात्र कारण है, परस्पर एक दूसरे के प्रति आस्था। हम अपने मित्र के सारे विषय सहजता से चिंतन करते और सरलतापूर्वक विश्वास करते हैं। यह सब सरलता के गुण से ही हो पाता है। अंकशास्त्र के अनुसार एक सरल रेखा आगे जितनी खींची जाय वह आगे बढ़ती चली जायगी, उसका अंत नहीं। सरल रेखा ही अनन्त तक पहुँच पाती है। ईश्वर के निकटवर्ती हुआ जा सकते हैं। मित्र के पास हम सारे बंधन खोल देते हैं। इसलिए मन का बोझ हल्का होता है और हम आनंद पाते है। यह आनंद, दोस्तों के साथ रहने से नायक विनायक को पूर्ण रूप से मिलता है।

मगर विनायक के विवाह जीवन में पत्नी मालती इतनी सख्तजान और अनुशासनप्रिय माँ है। माँ से कहीं ज्यादा पिता का रोल निभाया है उसने, सच में। तब फिर बच्चे ही उसकी चिंता के केन्द्र में नहीं होंगे तो और कौन होगा। बच्चे और उसका वह शोशल वर्क..... जिसे वह आश्रम कहती है। इस गुण, या इस प्रकार का बदलाव पाश्चात्य प्रभाव ही परिवार में प्रवेश हुआ है।

एक समझौता– साथ चल पड़ा है दोनों के बीच की मेरी दुनिया अलग, तुम्हारी दुनिया अलग, न मेरी दुनिया से तुमको मतलब, न तुम्हारी से मुझको सबसे बुरी बात यह है कि पहले जिस तरह, जब विनायक की दुनिया बहुत छोटी थी और घर ही केन्द्र में था तब विनायक जो भी उसके भीतर या बाहर घटित होता था, उसका अनायास ही साझा कर लेना था मालती से। पति–पत्नी में सहानुभूति का संपर्क ही प्रधान है। यह सहानुभूति घट जाय तो उनके संबंध में दरार पड़ने की संभावना है। अतः दाम्पत्य जीवन में हर

समस्या के पहले ही हमदर्दी या सहानुभूति की यथार्थ अवस्था का सम्यक विचार आवश्यक है।

वर्तमान युग में पारिवारिक जीवन में शांति अक्षुण्ण रखना दुष्कर कार्य है क्योंकि हम एक विच्छिन्न–विवरण युग में प्रवेश कर चुके हैं। यहाँ आज के युग में भी प्रयास करके प्रीति का संबंध अटूट रखकर विच्छिन्नता में भी योग रखा जा सकता है। भाई–बहन में कुछ प्रेम रहेगा ही क्योंकि वे एक ही माता–पिता की संतान हैं। एक ही परिवार में पालने बढ़ने के फलस्वरूप यह प्रेम रहता है। विवाह के बाद पत्नी अन्य परिवार से युक्त हो जाती है। नये परिवेश में उसका जीवन नया होगा। भाई अपने परिवार में रहेगा। दोनों को परस्पर संतोष संपादन में सचेष्ट होना चाहिए, जिसका अर्थ होगा, कुछ अंशों में स्वार्थ का त्याग करना। कुछ भी स्वार्थ त्याग के बिना धारणा करके रखा नहीं जा सकता। पति–पत्नी के बीच परस्पर संतोष साधन के माध्यम से एक दूसरे के प्रति उत्तरदायित्व भी बढ़ता है। यदि इनमें कोई समस्या उठे भी तो परस्पर उत्तरदायित्व का बोध संतोष साधन की चेष्टा एवं प्रीति बनाए रखने की आकांक्षा से वह कभी विराट रूप नहीं लेगा। ऐसे विदेशी प्रभाव हर चीज में। लिटरेचर में देखना चाहिए, एक ही परिवार में भी एकदम विदेशी प्रभाव हैं। हम रिसर्च करते–करवाते हैं विदेशी प्रभावों पर। हर एक पात्र और घटनाओं द्वारा वैश्वीकरण का प्रभाव उपन्यासकार ने अपने अक्षरों से सामने रखे हैं।

इसलिए परिवार की बदलाव–स्थति की गृहस्त्री मालती के गुण को देखकर विनायक का मन ऐसा सोचता है कि "भूमंडलीकरण की बात, मान लिया अब हो रही है, मगर क्या विश्व इतिहास की गति अनिवार्य रूप से इसी की ओर नहीं ले जा रही थी? कौन सी सभ्यता या संस्कृति ऐसी है जिसने दूसरी सभ्यताओं या संस्कृतियों से कभी कोई प्रभाव ग्रहण नहीं किया हो।"....6

मिस्टर रैणा जो पहले उसका पक्ष ले रहे थे बड़े जोर–शोर से दोस्त आपस में हमेशा ऐसी चर्चा करते रहे हैं। वर्तमान युग की औद्योगिक व्यावसायिक प्रगति परिणाम स्वरूप उत्पन्न, इस तरह की पारिवारिक समस्याएँ होती हैं, जिससे हमारे सामाजिक सांस्कृतिक जीवन में परिवार विरोधी वातावरण उत्पन्न हो गया है। आज की परिस्थितियों में गृहस्ती बसाना और उसे चलाना अपने आप में बड़ी समस्या बन गयी है। इसके मूल

आर्थिक तंगदस्ती तो है। साथ ही सभ्यता से उत्पन्न होनेवाली क्रांति ने इस अर्थभाव के बोध को और बढ़ाकर उसमें तीखापन उत्पन्न कर दिया है। बाजारों की चमक दमक और लोगों के वस्त्राभूषण व्यक्ति की महत्वकांक्षाओं को बढ़ाकर एक प्रकार के कृत्रिम अभाव का बोध व्यक्ति के मन में भर देते हैं। जिसके परिणामस्वरूप दाम्पत्य जीवन तनावग्रस्त हो गया है। इसके अतिरिक्त वर्तमान सभ्यता की अनेक प्रवृत्तियाँ जैसे नारी स्वातन्त्रय अत्यधिक व्यावसायिकता और बौध्दिकता भी दांम्पत्य संबंधों में नीरसता उत्पन्न कर देती है।

4.7 'किस्सा गुलाम' उपन्यास में सांस्कृतिक एवं सामाजिक चित्रण

'किस्सा गुलाम' उपन्यास के नाम से ही पता चलता है कि यह गुलामी जीवन की कहानी है। जीवन कैसा है, साथ में पति–पत्नी के प्रेम के बारे में, यह सब जीवन में उसका अविस्मरणीय हो गया है। उपन्यासकार ने उपन्यास को तीन खण्ड में बांटा है। पहले खण्ड में पाँच अंश हैं, नायक की सम्पत्तियाँ और सहेलियोँ की चर्चा है। एक अधूरी बहस और हमदर्द रीछ के लिए, इस प्रकार का है। अगले खण्ड में नायक कुन्दन द्वारा उपन्यासकार ने असली और वास्तविक जीवन को बताया है। इस में तेईस अंग हैं। तृतीय खण्ड में पिता और पुत्र के रिश्ता और उसके स्वप्न की कथा।

प्रथम खण्ड में अज्ञानवास सब में क्या चल रहा है, जीवन में पता भी नहीं चलता, वह विख्यात बुध्दिजीवी लेकिन वह अपने जीवन को भूल जाता है। एक पिछडी जाति में पैदा होने के कारण जन्मना बहिष्कृत होने की चेतना से विधा हुआ है। समाज भी उसको अस्वीकार करता है।

इस कारण से वह अपने को पूछता है मैं कौन हूँ?

इसमें अपना दोस्त आर्थर और उसकी पत्नी ग्रीटा के बारे में सोचा है, वे दोनो आदर्श दंपति हैं, परिवार का मतलब उनसे ही सीखना चाहिए। समाज में परिवार का प्रतीक और वर्तमान परिवार से तुलना आदि है।

नायक कुन्दन अपनी जर्मन पत्नी एलीस को ग्रीटा से तुलना करता है। ऐलिस ग्रीटा जीवन जीती है। मगर ग्रीटा सामान्य परिवार का जीवन बिताती है। इसलिए वह अपने आप को समाज से जोड पाती है। हमारी संस्कृति और आगे बढ़ जाती है। जोसफ अपना

परिवार छोडे विदेश जाता है। इसलिए हमारे भारत में यह बदलाव है। वैश्वीकरण की शुरूआत है। सहानूभूति के कारण भाव, इसलिए वह गुलाम बन गया। द्वितीय खण्ड में सत्यनारायण की कथा इसमें पहला अंक "टम्टा" यह नायक कुन्दन का घरेलू नाम से शुरू होता है। कुन्दन नाम का अर्थ शुध्द सोना है। वह अपने पिताजी के साथ अधिक समय बिताता है, पिता जहाँ भी जाते हैं, उनके साथ जाता है, तब कोई न कोई बात करते रहता है। प्रश्न पूछता है, तब उसके ख्याल में आया कि कुन्दन का मतलब क्या है? पिताजी ने बहुत अच्छे और सरल रूप से समझाया था। कुन्दन की माँ घर को सम्भालती है। वह मानती है कि "जरूर उसे भरोसा है कि कुन्दन मेरी तरफदारी करेगा"....7

यह तो ममता भाव, पिताजी भी उसकी तारीफ करेगे। कुन्दन अपना सिर उठाकर सामने देखता है तो वहाँ पिताजी कमर पर हाथ रखे ऐसे उसे घूर रहे हैं जैसे कुश्ती के लिए तैयार हों। उसे जोर की हँसी आ जाती है और वह दोनों हाथ हवा में झुलाते हुए भाग जाता है। भागते–भागते भी उसके कानों से एक वाक्य आके टकराता है "तू फिकर मत कर रानी। लड़का तेरा ही कहा मानेगा।"

यही हमारी संस्कृति माँ–बाप अपने बच्चों की हमेशा तारीफ करते हैं। वह उनके स्वप्न है, अपने बूढापे में बेटा हमको आर्थिक और मानसिक सहयोग का समर्थन करेगा। कुन्दन के नाना और बाँप काँग्रेस पार्टी के सदस्य हैं। कुन्दन के नाना हैं भी बड़े रौबदार आदमी लम्बे और तगड़े, रंग इतना गोरा, मानो अंग्रेज हो और गाल भी ऐसे लाल और चमकीले, कि पीठ पीछे लोग उन्हें "टोमेटो" कहते हैं। टमटा का टामेटा कर दिया। पिताजी को यह पसन्द नहीं। पिताजी कहते हैं यह बहुत ही गन्दी आदत है इस शहर के लोगों की। पिताजी गाँधी आश्रम के मुनीम हैं, और एक अखबार में भी संपादक थे। इसलिए वे घर में भी व्याख्यान करते रहते हैं। कुन्दन अपने परिवार को बहुत प्यार करता है। उनके अनुसार जीवन में गंदी आदतें नहीं होनी चाहिए।

उपन्यास में जानकी नामक स्त्री प्रेम विवाह करके वापस आ रही है, लेकिन गाँव में सब लोग अजीब तरीके से देख रहे थे, ऐसे ही भागवती और लच्छन की शादी भी मन अजीब हो गये। वे अपनी–अपनी मनमानी करते हैं, लेकिन सच्चे प्रेम को कोई मान्यता देते, यह विषय छोटे कुन्दन को समझ में नहीं आया था।

उपन्यास में एक मोड़ आता है रामकाका की कुटिया, यहाँ है नायिका भागीरथी का घर, यह भैरवनाथ मंदिर को ऊपरवाली पहाड़ी पर बना हुआ छोटा सा घर है। रामकाका के तीन लड़कियाँ हैं, बड़ी लड़की लक्ष्मी की अभी ही हाल ही में शादी हुई थी। मंझली गोमती बी.टी.सी करके उसी स्कूल में पढ़ा रही है, जहाँ रामकाका पढ़ाते थे। उसकी भी शादी के लायक लड़की थी। भागीरथी गोमती से पाँच–छः साल छोटी थी, लगभग कुन्दन की ही समवयस्क है। रामकाका पिताजी की प्रतीक्षा कर रहे है। दोनों ठीक से समय बिताते थे, इन दोनों (पिताओं) के मिलन से भागीरथी और कुन्दन का मिलन भी हुआ था। इसलिए कुन्दन को अपना घर पसन्द नहीं आता।

इस बीच में कुन्दन के पिताजी नारायण लाल टम्टा वे सच में गाँधी के वारिस है। वे चुनाव में जीत कर समाज की सेवा करना चाहते थे। घर में कुन्दन का मामा जगदीश कम्युनिस्ट और सुरेन्द्र मामा सोश्लिस्ट इसलिए घर में हमेशा सोश्लिस्ट और कम्युनिस्ट की बहस करते रहते हैं। कम्युनिस्ट या सोश्लिस्ट हो कोई भी जनता की सेवा करना और सही रास्ता दिखावा यह राजनीति का नियम है। वे नेहरूजी और गाँधीवाद पर हमेशा चर्चा करते रहते हैं। इस बार कुन्दन के पिताजी चुनाव में खड़े होनेवाले हैं। इस पर घर में सब अपना विचार प्रकट कर रहे हैं, बीच में कोई बोला कि जाति के बारे में हम शिड्यूलट कास्ट है। इसलिए हमें आगे चलने नहीं देते। राजनीति में जाति का प्रभाव तो ज्यादा है। बालक कुन्दन को कुछ भी समझ में नहीं आया, वह चौक गया है– यह क्या बात है, इनसान सब इनसान हैं, शिड्यूलट कास्ट की क्या बात है, क्यों यह भेदभाव शिड़यूल्ट कास्ट क्यों अलग पटना यह क्या नियम है। किसने बनाया यह नियम?

पिताजी अपने बारे में सोचते है, मगर हार गया तो? तू हारेगा कैसे? अभी तुम्हारे खिलाफ कौन प्रचार करेगा? मौसी ने आश्वास दिया कि कुन्दन को भी ऐसा लगता है। मगर दिन–ब–दिन समाज में जाति का प्रभाव ज्यादा हो गया। पिताजी को जीतने का मोका कम ही, इसलिए वह घर से भाग गये, कुन्दन और माँ अपने मामाजी के नीचे आये, यह बदलाव और पिताजी का यह भागजाना बालक के मन में गहरा प्रभाव पड़ा। वह विदेश जाकर पढ़कर वापस आया। इसके बीच में भागीरथी की शादी हो गयी। वहाँ कुन्दन

को आर्थर और ग्रीटा की दोस्ती मिली, उनके साथ ही वह समय बिताता है, वह थोड़ा–सा अपनी पुरानी याद से बाहर आता है, गुलामी जीवन से मुक्त हो जाता है।

उपन्यास पूर्ण रूप से सामाजिक और गुलामी चित्रण के वर्णन की कहानी है। वह अपने आप सोचता है। मैं कौन हूँ? समाज में मेरे लिए क्या पहचान है? बार–बार वह जीवन से विरक्त होकर अपने आपको भूल कर जिन्दगी के बारे में ऐसा कहता है कि "मानो यही जिन्दगी हो..... और जिसे आप जिन्दगी समझ के बड़े चाव और बेशर्मी के साथ पिछले तीस बरसो से जीते चले आ रहे थे, वह दरअसल जिन्दगी नहीं, मौत है। तभी तो, ऐसा लगता है कि यह मोहाल खत्म हुई नहीं कि आप फिर सूली पै चढ़ा दिये जाएँगे। और सूली आपको कौन चढ़ाएगा? यही आपकी जानी–मानी रोजमर्रा की दुनिया और रोजमर्रा की जिन्दगी।"....8

एक विशेष खोज, इस धरती में जल, प्राणी, वनस्पति सब कुछ ईश्वर की अनोखी लीला है। प्रकृति की लीला है। पक्षियों के शरीर पर न जाने कितने रंगों से कलाकारी की गई है। पशुओं के क्षेत्र में भी ऐसा ही है। किसी भी पशु–पक्षी के रंग–रूप से मानव शरीर की तुलना नहीं कर सकते। पशु–पक्षी अपने अंदर भेदभाव नहीं देखते, उनके ऊँच–नीच जाति भाव नहीं, इस दुनिया में वे कहीं भी, कभी भी जा सकते। मगर मानव के क्षेत्र की बात ही अलग है। उसकी चाह अनंत है, उसकी पिपासा भी अनन्त है, अतएवं उसकी यंत्रणा, कष्ट और अशांति भी अनंत है। जीवन में माँगें, जिस मात्रा में बढ़ेंगी, उसी अनुपात में अशांति में भी वृध्दि होगी। इस स्वाभाविक मानव को एक, दूसरों से भेदभाव नहीं करना चाहिए सब लोग भगवान की सृष्टि हैं। ईश्वर ने सबको एक साथ बनाया सबका खून लाल है। इनसान रंग में गोरा, काला हो सकता, मगर त्वचा के अंदर मांस्पेशियों और हड़्डियों में भेदभाव नहीं, फिर क्यों इतने भेदभाव हैं, मनुष्यों के अंदर? हम ने समाज और शिक्षा के क्षेत्र में कितना विकास किया है? आगे बढ़े, फिर भी हम इस आधुनिक युग में भी इस पुराने विषयों से अंधविश्वास से बाहर नहीं आये। आज कल वैश्वीकरण का मूलमंत्र "वसुदैव कुटुंब" की मान्यता है, ऐसी स्थिति में इस तरह का गुलामी जीवन, भेदभाव से हम चालीस या पचास के युग में हैं। उस में विकास नहीं हुआ। ईश्वर की सृष्टि में एक–सा

नियम चलता है, क्योंकि वे निरपेक्ष हैं। पशु की तरह जैसे उदरपूर्ति मात्र से मांग पूरी हो जाती है, मनुष्य के क्षेत्र में ऐसा संभव नहीं है क्योंकि मानवेतर जीवों में ईश्वर ने उसकी जैसा विचारशक्ति, अच्छा–बुरा समझने की शक्ति नहीं दी हैं। मनुष्य को भी जो विशेष गुण प्रदान किए गए हैं, उनका यथावत् व्यवहार किया जाय तो जीवन पर अवश्य ही नियंत्रण रखना संभव है। जीवन का नियंत्रण का अर्थ है, अपनी माँगों और चाह पर नियंत्रण।

हम भगवान के नाम पर भेदभाव देखते हैं मगर भगवान शांतिस्वरूप को मिलेंगे। मानव जीवन महाकाव्य का स्वरूप है। जीवन विरह रस से भरपूर है। विरह रस मधुर रस की ही नींव है। विरह रस में समृध्द हुए बिना मधुर रस के आस्वादन करने की योग्यता नहीं आ पाती। मधुर रस पृथ्वी में श्रेष्ठ रस है। मानव देह उसे धारण कर पाता है। हर रोज वह अपने पिता जी और उनके गुलाम जीवन के बारे में सोचता था, हर दिन वह बोलता था कि, "आज जाकर मेरी समझ में आया है मैं कौन हूँ? मैं कौन हूँ, श्रीमान गुलाम! और आपकी तरह मैं खुद भी हैरान हूँ, कि इस बेहद मामूली नतीजे तक पहुँचने में मुझे इतने बरस कैसे लग गये? ३३३ आप इतना तो जानते होंगे कि एक गुलाम से ज्यादा सपने कोई नहीं देख सकता। ऐसे गुलामों के किस्से भी आपने सुने ही हेंगे, जिन्होंने ऐसे करिश्मे कर दिखाए तो उनके मालिक भी नहीं दिखा सकते थे"।....9

उपन्यास में कुन्दन अपने दोस्त के समाज में फैले हुए इस गुलामी के वर्णन के बारे में बहुत आवेग से कहता है। हम और आप उसी अभागे और हत्यारे देश की सन्तान हैं। हमारे माथे पर सचमुच ही ऐसे कलंक हैं, जिन्हें धोने के लिए शायद समूची गंगा का पानी भी काफी न पड़े। क्या हम अभी भी भीतर से गुलाम ही हैं? यह आजादी महज एक धोखा है, फरेब है, जो किसी भी दिन टूट सकता है?

दूसरों के कल्याण की चिंता हमेशा करते रहने पर भी हिंसा की भावना कम हो जाती है तथा दूसरों पर प्रेम की भावना उत्पन्न होती है। समाज में विभिन्न लोगों के साथ भिन्न–भिन्न प्रकार का आचारण करना पड़ता है। हमारा वास्तविक अस्तित्व बनाए रखने के लिए भिन्न–भिन्न पंथों का अनुसरण करना पड़ता है।

इन सभी असुविधाओं के बावजूद भी हमारी मंगल चिंता अबोध गति से चल सकती है। अनुशासन व डाँटने के पीछे भी मंगल चिंता रहेगी। मंगल के लिए अनुशासन या

डाँटना–फटकारना भी उचित है। हम चाहे जिस पथ पर चलें, मंगल या कल्याण के लक्ष्य के प्रति सजग रहें तो हमारा उद्धेश्य सिध्द होगा, हममें हिंसा का ह्रास होगा। इंसान से प्रेम करना सीखना है, उनके दुःख में दुःख और आनंद में आंनदित हो जाना है। तब यह समस्या नहीं रह जायगी।

इस समाज बदलाव में प्रकृति भी चाहिए। इसलिए उपन्यासकार ने ऐसा लिखा है कि "हमें प्रकृति भी चाहिए, संस्कृति भी चाहिए और दोनों अपनी ही शर्तों पर चाहिए। क्या ही गड़बड़ करके रख दिया है हमने अपनी जिन्दगी में सबकुछ खोए हैं।" आखिर इस तरह प्रकृति और संस्कृति के विज्ञान और दर्शन को, ज्ञान और भक्ति तक को गडबड कर देने का भाव होता है।

हमारी प्रकृति बहुत सुन्दर है, संस्कृति भी सुन्दर है, उस संस्कृति का ठीक से पालन करना हमारा कर्तव्य है। धर्म, विज्ञान और दर्शन से जिंदगी आगे बढ़ती है। भक्ति और धर्म के द्वारा जीवन में एक सरल भाव उत्पन्न होता है। इस सरल भाव से ही संसार में शांति मिलती है। सरल रेखा ही अनन्त तक पहुँच पाती है। ईश्वर अनन्त है। अतः सरलता के गुण द्वारा ईश्वर के निकटवर्ती हुआ जा सकता है। मित्र के पास हम सारे बंधन खोल देते है, इसलिए मन का बोझ हलका होता है और हम आनंद पाते हैं। जब मनुष्य वस्तुतः सरल होता है तब वह सभी विषय सरलता पूर्वक ग्रहण कर लेता है। इसे यह आस्था में परिणत होता है। हम जब यथार्थ आनंद का आस्वादन करते हैं तब ही कुछ आनंदमय लगता है, परिवेश भी वैसा ही हो जाता है, मन में कोई जटिलता नहीं आ पाती। अस्थायी रूप से ही सही, तब हम भी सरल बन जाते हैं। सरलता के साथ आनंद ऐसा घनिष्ठ भाव से ओतप्रोत है कि कई बार दोनो में भेद कर पाना कठिन हो जाता है जो देखा जाता है। इस सरलता के माध्यम से जब दो मित्र मिलते हैं तब दोनों को एक आनंद रहता है। इसलिए मित्रता का संबंध सर्वश्रेष्ठ है। जो सर्वांगीण कल्पना करने में सक्षम है। जीवन में इस श्रेष्ठ संबंध का आस्वादन करने केलिए, हमारे भीतर सरलता का जो थोड़ा–बहुत गुण है, उसे सहेज कर, उसकी वृध्दि करने का प्रयत्न करना होगा।

वास्तविक जीवन में बंधन रहेगे ही एवं इन्हीं बंधनों को लेकर हमें सरल होना पड़ेगा। सर्वदा यदि ऐसी चिंता की जाय कि जगत में कुछ भी चिरतन नहीं है तथा सब कुछ

भतवत् इच्छा से ही घटित हो रहा है, तब सरलता का गुण अवश्य ही बढ़ेगा। ऐसी भावना द्वारा एवं यह भावना यदि अभ्यास में परिणत हो जाय तो यह सारे बंधन मन पर कोई गहरी छाप नहीं छोड़ेंगे। यही एकमात्र पथ है। कुछ भी इसी मन पर गहरी छाप न छोड़ सके, शोक, दुःख, अभाव, वैभव में कोई समान भाव से रह सके, स्वाभाविक ही वह जीवन के चरम उत्कर्ष की ओर पहुँचेगा सरलता ही उसे उस मुकाम तक पहुँचाएगी।

4.8 'आखिरी दिन' उपन्यास में सांस्कृतिक और सामाजिक चित्रण

उपन्यास का नायक या सुत्रधार इन्द्रजीत मलहोत्रा, घर से निकला, अपने गुरूजी की खोज करते हुए हिमालय की ओर जाता है। बीच में आतंकवादियों ने उसको पकड़ लिया, मगर उसे कुछ भी नहीं पता कि क्यों उसको पकड़ा, मैं कौन हूँ? उतना धनवान भी नहीं हूँ, इसलिए उस हालत में भी उसे मुस्कुराहट आयी, हाँ उस स्थिति में भी उसको आनंद का अनुभव था। बाद में उन्होंने मौत के बारे में सोचा था, वर्तमान में भूत और भविष्य की सोच और विचार गायब हो गया। इसमें दहशत नहीं है। अगर दहशत है तो उसके बाँगलूर चले जाने से ही उस पर काबू पायी जा सकता है। इन्द्रजीत मलहोत्रा गुरू की खोज में कश्मीरी आतंकवादियों के हाथ लग गया। जिन्दगीभर भयग्रस्त बनी रहने वाली लेखकीय आत्मीय एकान्त में ही भयमुक्त हो जाता है। मलहोत्रा की नजर, या ध्यान में गुरू का, कभी दोस्त का तो कभी तत्व चिन्तन आ रहा है। उस कोठरी में आवाज आयी कि :

"डरो मत, तुम अपने घर में हो, डरो मत"।....10

वह बार–बार, बारी–बारी से हर दिवारे में दिवारे के पास जाकर कान लगाकर सुनने की कोशिश कर रहा है, पर कुछ भी तो सुनाई नहीं देता। वह आवाज नहीं, उसका भ्रम है, उसकी अंतरात्मा की आवाज है, वह अपने विवेक से, अपनी आत्मा से बात कर रहा था। यहाँ उपन्यासकार ने हर एक इन्सान को भी मलहोत्रा के रूप में दिखाया है। हम सभी तो मौत की सजा पाए हुए मुजरिम है। हम राजा हो, आम जनता हो, हमारे हर एक के गले में फन्दा पड़ा हुआ है, पैदाइशी फन्दा, जिसे कहना है एक दिन। लेकिन हम बोलते है कि नहीं मेरा।

मैं अभी मरना नहीं चाहता। विक्षिप्त–सा हो गया मैं। क्या अर्थ है इस जीवन का, इस मनुष्य नाम के प्राणी का जिसका जीना और मरना ऐसे वाहियात संयोग पर निर्भर हो। इस तरह हम कभी नहीं सोचते हैं। वह अपनी मृत्यु के साथ, दोस्त चक्रवर्ती की मृत्यु की याद करता था, दोस्त ब्रेन हैमरेज से मरा था। यह दुनिया बड़ी समझती है, वह दरअसल पिंजडे जैसे छोटी और दमघोंटू हैं। वह चिपकूपन वही वहलावे, वही बहसें, वही सवाल–जवाब, वही शंकाएँ, वहीं पीड़ाएँ, जिनकी आदत–सी पड़ गयी है हमें। बीच में सूत्रधार इन्द्रजीत को अपने परिवार की याद आयी। वह अपने भीतर इस दुनिया के बारे में बात कर रहा था। कहीं भी आतंकवाद, बमकाण्ड, आतंकवाद है। आतंकवाद, हर जगह आतंकवाद, उत्तर–दक्षिण, पूंव–पश्चिम कहीं नहीं है आतंकवाद। सब सर्वनाश हो गया। सब नरकंकाल है। यहाँ उपन्यासकार ने अपने मन की वेदना और आज के संसार भाव को दिखाया है।

उपन्यास में सूत्रधार इन्द्रजीत को सिर्फ अपने नाम पर विश्वास आया, इसलिए उन्होंने कहा कि "मेरी पेशी हो चुकी है, वे मुझे इस कदर मार–काट चुके हैं कि कोई वजह नहीं, मैं बचा रहूँ, तभी तो मैं जिन्दा हूँ और बखूबी, बाकायदा जिन्दा हूँ। मुझे तो इन्द्रजीत ही बनना था, नहीं बना अभी तक, तो कोई बात नहीं, अब बनूँगा मैं इन्द्रजीत।"....11 नाम ही क्यों सरनाम भी उसका उतना ही चमत्कारक, और उतना ही अर्थपूर्ण लगा। मल्होत्रा, यानी क्या? मल्होत्रा यानी अपनी ही आग में, अपने और दूसरों के सबके भलों की आहुति देने वाला। वाह! इससे बढ़िया, इससे ज्यादा सटीक नाम इस पात्र के लिए क्या हो सकता है। कार और अंगरक्षक तो आजकल, यहाँ आमबात है, जरूरी नहीं, वह अपने आपको पचाता है।

मल्होत्रा के मन में देश प्रेम ज्यादा है, इसलिए, वह कश्मीर और पाकिस्तान के बारे में सोच रहा है। हम भारतवासी है, हमारी क्या कोई अपनी पहचान नहीं? उसकी नजर में दोनों गुलाम हैं। पाकिस्तान और कश्मीरियों को हमारे ढंग से जीने से रोकता कौन है? क्या कसूर तो किसका है? यह कहना तो आसान है, मगर करना सोच की बात है।

रमेशचन्द्र शाह का यह आखिरी दिन उपन्यास सच में इन्सान की आखिरी दिन की सोच है। अपनी पूरी जीवन घटना सुख–दुःख ऐसे हर एक संभव को याद करता है। वह

सोचता है कि "हम सभी तो मौत की सजा पाए हुए मुजरिम हैं, चाहे हम राजा हो, चाहे रंग, हम से हर के गले में फन्दा पड़ा हुआ है, पैदाइशी फन्दा, जिसे कहना ही है एक दिन।"....12

जीवात्मा और परमात्मा दोनों मानव देह में विद्यमान रहते हैं, देह में जीवात्मा रहते तक ही जीवन है। जीवात्मा और परमात्मा एक अखण्ड चौतन्य सत्ता है। विश्व की प्रत्येक वस्तु में यह चौतन्य सत्ता विराजमान रहती है। मृत्यु के बाद जीवात्मा नया शरीर धारण करती है। शांति के लिए संसार के लोग हाय–हाय करके चीतकार कर रहे हैं, जिसकी खोज में हम सब जुटे हुए हैं, वह शांति भी इसी मोक्ष में ही निहित है। शांति के खोजकर्ता को एक दिन उस लक्ष्य पार करके ही मोक्ष के द्वारा पहुँचा जा सकता है। तीनों का पूर्ण आस्वादन होना चाहिए, एक को छोड़कर दूसरे में पदार्पण करना संभव नहीं। सभी का आस्वादन पूर्ण हो। प्रथम तीन का अतिक्रमण करके जब मानव पूर्णता का पथ पार करते हैं, पोशाक द्वारा शरीर के अंगों को ढ़क कर रखने के हम अभ्यस्त हैं, यही सभ्य समाज की रीति है।

मृत्यु देह रूपी पोशाक को छोड़ने एवं नई पोशाक धारण करने का संधि–क्षण मात्र है। जन्म यदि जीवन का प्रवेश द्वारा है, मृत्यु वैसे ही बहिर्गमन का पथ है। एक ही वृत्त की दो बिंदुओं के समान दो नाम से ज्ञान है। जन्म और मृत्यु के बीच जो समझौता है, जिस नियम में बंधे हैं, वह समय पृथ्वी की प्राणी संख्या को नियंत्रित करती है। जन्म यदि आनंद सहित वरण करने योग्य है तो मृत्यु भी अन्य दृष्टि से नहीं देखी जानी चाहिए, क्योंकि थोड़े समय में ही जन्म भार से पृथ्वी निवास योग्य नहीं रह जाती, खाद्य–पेय कुछ नहीं जुट पाता, मृत्यु उस अवस्था को रद्द करके, नियंत्रित करके अस्वाभाविक अवस्था से जगत को बचाकर कल्याण साधित करती है।

मुत्यु इस अवस्था से हमारा उद्दार करती है। जगत परिवर्तनशील है, परिवर्तन के माध्यम से ही जीवन प्रवाह अबाध रूप से चलता रहता है। मृत्यु वह परिवर्तन का माध्यम और कुछ भी नहीं अतः वह मंगलकारी है। हम साधारण लोग यह बात जानते या समझते नहीं। यह सब जानबूझ कर भी मृत्यु हमारे निकट विभीषिका की बात रहती है, इसका कारण मोह जनित संस्कार एवं अज्ञानता ही है।

आदिकाल से मृत्यु देखते दृ देखते तब मानव मन में एक भय का संस्कार बनने लगता है। मृत्यु का रूप इसलिए हमारे पास विभीषिका पूर्ण ही है। आत्मा चिरंतन है, यह बात मुँह से बोलते जरूर हैं, पर आत्मा संबंधी प्रत्यक्ष ज्ञान, आत्मा को देख पाना या मृत्यु के बाद आत्मा किस अवस्था में रहती है, इसकी सम्यक उपलब्धि हमें नहीं होती। विभिन्न धर्म हमारे इस संस्कार को और भी बढ़ावा देते हैं। कोई तो कहता है, आत्मा हमेशा रहती है एवं रहेगी, परंतु कोई इसे अलग कुछ रहता है। जो भी हो मृत्यु के बाद हमारी आँख की आड़ होने पर, क्या परिणति होती है, यह हमारे बुध्दि के बाहर की वस्तु है, वह हम नहीं जान पाते। अतः मृत्यु हमारे लिए भयावह और अंधकार मय ही है।

जन्म के साथ मृत्यु का एक संबंध है। सृष्टि के साथ ध्वंस जगत का संतुलन या भारसाम्य नष्ट हो जायगा। जन्म हमें सीमाबद्ध करता है तो मृत्यु उस सीमाबध्दता से मुक्त करके अनंत की ओर बढ़ाता है। जन्म से हम सीमाबध्द दृष्टि प्राप्त करते हैं, मृत्यु हमें अनन्त दृष्टि प्रदान करती है। अतः मृत्यु का वह वृहत रूप हमारी सीमित दृष्टि से भयावह ही प्रतीत होता है। समुद्र की ओर देखते रहना अच्छा लगता है, उसका विशाल रूप हमें उदास कर देता है। समुद्र की विशाल सीमाहीन जलराशि हमारी दृष्टि की पकड़ में नहीं आ पाती, वह हमारे लिए भयंकर भी है। हम समुद्र तट पर घूमना भले ही पसन्द करें, परन्तु उसकी अशेष जलराशि में डूबना कभी पसन्द नहीं करेंगे। उसी प्रकार हम रोग भोगकर अस्थि चर्म मात्र बन जाएगें, मृत्यु के किनारे चलेंगे। सभी सीमाहीन वस्तुओं से हमें भय–सा लगता है। भय का कारण यही है। जिस तरह भी विचार करें, मृत्यु हमारे लिए मंगल पद है। इस बात में कोई संदेह नहीं रह जाता। इस तरह मृत्यु एक भयंकर रूप बनके हमारे सामने है, इसलिए हम एक–एक क्षण भी उसी भय से जीवन बिताते हैं। उपन्यास में भी नायक मलहोत्रा ऐसे भय से सोच रहा है कि एक दिन की मृत्यु के लिए हम हर दिन मुजरिम हो रहे हैं। इस प्रकार उपन्यास में लेखक ने हमें अपने दैनिक जीवन की याद को ऐसा लिखा है कि "हम सभी तो मुजरिम हैं, मेरे प्यारे बच्चे, हम सब पैदाइशी गुनहगार हैं। बाबा आदम के जमाने से हम पाप पर पाप करते आ रहे हैं।"....13

हाँ, पाप हमारे खून में है, पाप हमारी हर साँस में घुला है, पाप में से ही हम पनपते हैं। हमारा देखना, सुनना, बोलना, उठना, बैठना, खाना, पीना, सोना सब पाप ही

पाप है। पाप माने किसी को भी मरना नहीं सिर्फ उन्हें मन को दर्द देना ही शब्द बोलके परेशानी देना ही बढ़िया पाप है। आज तकनीकी जमाने में ऐसे पाप ज्यादा चल रहे हैं। हमें कभी भी किसी के काम में विघ्न–बाधा नहीं देना चाहिए। सब के कार्यों को चलने देना चाहिए। संसार में एक बढिया पाप है नाराज होते हैं, खून के लिए वह अपने को भी और सामनेवालों को भी मृत्यु देती है।

हमारा कर्म ही जीवन है। जीवन में कर्म अपरिहार्य है। मानव शरीर में स्वाभाविक गति से यह कर्म अबाध गति से चलता जा रहा है। यही कर्म स्पंदन जीवन है। स्पन्दनहीन जीवन मृत्यु है। अतः कर्म पर आस्था ही पुरूषार्थ है किन्तु कर्म पुरूषार्थ नहीं है। कर्म मानव जीवन की नींव के समान है। पुरूषार्थ कर्म की मूल प्रेरणा स्वरूप है। कर्म ही गतिशीलता है। वास्तविक अर्थ में जगत की सभी वस्तुएँ गतिशील हैं। ऐसा कुछ भी नहीं जो गतिशील न हो। साकार–निराकार तथा दृश्यमान तथा अदृश्यमान दोनों क्षेत्रों में यह गतिशीलता विद्यमान है। एकमात्र निराकार ब्रह्म ही गतिहीन है एवं चंचलताहीन रहते हैं। दूसरों के लिए ऐसा रह पाना संभव नहीं है। हमारे आकार में भी परिवर्तन आया होगा। जिस मनुष्य की अभी–अभी मृत्यु हुई हो, उसका शरीर भी गतिहीन नहीं है। ज्योंही जीवात्मा ने शरीर का त्याग किया, उसमें तुरंत सड़न क्रिया प्रारंभ हो गई है। जन्म से मृत्यु पर्यंत तुम्हारे शरीर पर हिमालय जैसा विशाल परिवर्तन घट चुका है। जीवन में हर एक क्षण का महत्व हैं। कुछ क्षण बाद वह समय नहीं होगा। इसलिए साकार–निराकार सभी वस्तुएँ गतिशील हैं।

हमारे किसी भी कर्म के साथ फल रहेगा ही। यही फल वासना की दृष्टि करता है। जैसे तरंगों की आकृति, गति, प्रकृति आदि डाले गये पत्थर के आयतन वजन पर निर्भर करती है। कर्म के पीछे जो चेष्टा, उध्यम विद्यमान रहता है, वहीं कर्म के लिए उत्तरदायी कौन? हमारे अंह वासना, ईर्ष्या भाव है। वासना की तृष्टि के साथ ही अंह भाव भी तृप्त होता है, जब तक ऐसा न हो तब तक पुरूषार्थ बारम्बार कर्म में नियुक्त करता है।

हमारे ज्ञानोदय के बाद से जो भी कर्म करते आए है सभी का फल हाथोंहाथ मिलता है, ऐसा नहीं होता। कर्म के साथ ही फल प्राप्ति हो जाय तो उस कर्म की समाप्ति हो जाती है। जो फल नहीं मिल पाता वह कर्म फल जमा रहता है। आजीवन जो कर्म किया

जाता है उसका कुछ ही अंश फलस्वरूप जीवन में भोग किया जाता है, अधिकांश कर्म फल जमा ही रहता है। इस तरह जीवन में हरफल कार्य में भी हमारे फल (पाप या पुण्य) होता है। वह हमारे आखिरी दिन में ध्यान में आएगा यही भगवान का नियम है।

ऐसे ही नायक मलहोत्रा को भी अपने जीवन की हर एक घटना याद में आयी है। वह रेल गाड़ी की दुर्घटना, जिसमें चालीस के चालीस यात्री आनत–फानन कोयला बन गए थे, एक भी नहीं बचा था, एक भी जिन्दा बाहर न निकल पाया! क्या यह अनहोनी बात नहीं है? कहते थे एक आदमी चढ़ा था इथाइल या मिथाइल और अलकोहल से भरा हुई दुर्घटना हुई था। समाज में आज कल आतंकवाद खुद फैला हुआ है, उस में पाँच से पचास उमर तक, स्त्री पुरूष से भेदभाव नहीं है। इसलिए वह बहुत परेशानी से अपने मन में सोचता है। "आतंकवाद! आतंकवाद! हर जगह आतंकवाद बस में, रेल में, हवाई जहाज में, सिनेमाघर में, कश्मीर में, श्रीलंका में, आसाम में, अहमदाबाद में, उत्तर दक्षिण दृ–पूर्व, दृ –पश्चिम कहाँ नहीं है आतंकवाद! वह उस लिफाफे के भीतर है जो पोस्टमैन ले के आ रहा है।"....14

उसके मन में बहुत ही परेशानी और और इस घटना से दुख हो रहा है। इसके बारे में अखबार में भी आयी थी कि पैट्रोल या अलकोहल दोनों में से कोई भी चीज ऐसा सर्वनाश नहीं कर सकती है। दोनों घटनाओं की बस एक ही व्याख्या संभव है, और वह यह कि कोई बम वहाँ रखा गया था। रासायनिक बम, और बम रखने वालों को अच्छी तरह पता था कि बस में पैट्रोल या अलकोहल के पीछे भी जाते हुए भी रहा है। उन्होंने रखवाए हो सकते हैं वे पीपे भी–बम का शक मिटाना जानकर ही रखलिए। अखबार ने यह भी साफ–साफ लिखा था कि यह आंतकवादियों के सिवा किसी का काम नहीं हो सकता। थराई में उन्हें खासी पनाह मिली हुई है और अभी हलद्वानी के सिनेमाघर में जो विस्फोट हुआ था, वह भी उन्हीं की करामात थी।

हर इनसान को दूसरों को भी इनसानियत के भाव से देखना चाहिए कहीं भी अपने लिए अलग नियम पालने व्यक्ति नियम नहीं बनाते। हमेशा प्रकृति के साथ चलना चाहिए। प्रकृति में बहुत से विचित्र रूपों का समावेश है। अतः वह सुन्दर है तथा हम प्रकृ ति के प्रति आकृष्ट होते हैं। सुन्दरता के प्रति मानव का आकर्षण स्वाभाविक है। मगर

आतंकवादीयों ऐसा नहीं सोचते है, उनका आकर्षण पैसा और पद। आम आदमी में एक भी व्यक्ति नहीं होगा जिसका सौन्दर्य के प्रति आकर्षण न हो। हर इंसान में इस सौन्दर्य का अनुसंधान करना चाहिए। तब यह आंतकवाद थोड़ा कम होने की संभावना है। प्रत्येक व्यक्ति गुण संपन्न है। हम अनुसंधान करें तो लोगों में ऐसे गुणों का पता चलता है कि हमारा उनके प्रति आकर्षण होगा ही। अतः मानव के दिखाने के प्रति श्रध्दा नहीं आती, गुण के प्रति ही श्रध्दा आयी है।

4.9 'सफेद परदे पर' उपन्यास में सांस्कृतिक एवं सामाजिक वर्णन

"सफेद परदे पर" उपन्यास के नायक दत्ता जी अकेले हैं, इस अकेलेपन के कारण वे जीवन में विरक्त हो जाते हैं। इसलिए उनको लगता है कि, इस प्रपंच की कोई जरूरत नहीं कि अपना काम खुद करना कंजूसी नहीं, अनुशासन है, स्वच्छता से अपने ऊपर लादा गया अनुशासन–जो आध्यात्मिक उन्नति का मस्त है अनिवार्य है।

उन्हें बचपन से ही इस आदत की जिद रही है कि जिस प्याले में पीते, जिस गिलास में पीते, उसका इस्तेमाल कोई और न करें, सिर्फ वे ही करते हैं। और क्या पूछते हैं कि इसमें किसी का क्या नुकसान है। चाय भी खुद बनाते हैं। किसी और के हाथ की चाय उनके अच्छी नहीं लगती। खुद बनाते या और पीने के बाद अपना जूठा प्याला, टी–पॉट वगैरह खुद धो के रख देते हैं फौरन। मगर घर में किसी को भी यह आदत नहीं इसलिए किसी को भी पसन्द भी नहीं, तब उनका अपना प्याला गिलास उनको जरूरत पर अपनी जगह कभी नहीं मिलती। उसे कोई दूसरा ही इस्तेमाल कर चुका होता है। कभी–कभी तैलिया, बनियान, कलम आदि हर बार वही तमाशा होता है, लेकिन वृध्द की वजह से वे गुस्सा हो जाते है। उस समय दत्ता जी को अपनी पत्नी की स्मरण आता है। वे सोचते हैं कि "मेरी पत्नी के रहते हमारे घर में ऐसी अराजकता तो नहीं थी। कम से कम मेरी चीजें तो अपनी जगह पर रहती ही थीं। अब तो लगता है, सब कुछ सब जगह है और कुछ भी अपनी जगह नहीं"....15

दादा जी के जमाने में, और उनकी आदत अलग है मगर आज की दुनिया अलग है कोई किसी को भी "मिस" नहीं करता इस दुनिया में। सब को सब की जानकारी है।

गूकूल से उतनी बड़ी दुनिया भी सिर्फ हाथ में हैं। मगर दादाजी यह नहीं समझाते हैं। उनको समझाता है कि मेरी साधना का एक जरूरी अंग यह भी है, खुद खाना पकाना और बर्तन माँजना अकेलेपन की वजह से वह अपने मन में हमेशा सोचता है कि या बर्तन माँजते हुए उनको लगता है, मैं खुद एक बर्तन हूँ, जिस दुनिया पल–प्रतिपल जूठा करती रहती है। सच में जूठा बर्तन मुझे कहीं भी पड़ा दिखता है ते मैं बेचौन हो उठता हूँ। जब तक माँज नहीं देता, चौन हीं नहीं पड़ता था उनको। उम्र बढ़ते सब को भी मृत्यु का भय और कुछ को एकदम जीवन तत्व और जीवन में एकदम अनुभव होता है। यहाँ इसको भी मृत्यु की सोच आयी कि श्मशान करीब इन्हें घर से आधे किलोमीटर पर है। कम से कम पाँचेक बार तो आते रहते थे इधर किसी–न–किसी शव–यात्रा शामिल होते होगा प्लैट के पास, दत्ता जी को भी पता नहीं, कैसे उन्हें ध्यान उस तरफ पड़ा था। आखिर क्यों आना चाहते लोग यहाँ? कैसी दृऊल जलूल और बाहियात बातें आती रहती हैं, इनके दिमाग में! अब आती हैं तो आने दो। गुजर ने दो जुलूस उनका ध्यान ही मत दो उनकी ओर। सिर्फ देखा, बगैर उनका नोटिस लिए। वैसे ही जैसे एक सफेद परदे पर तरह–तरह के छायाचित्र बनते बिगड़ते रहते हैं। और फिर भी, परदा ज्यूँ का त्यूँ रहा जाता है। तो वास्तव में तुम वह सफेद परदा ही तो हो, उन सारी आती–जाति छायाओं से अछूते। तुम दर्शन भर हो। नहीं, दर्शन नहीं, साक्षी भर। वे सिर्फ छायाएँ मात्र है। तुम वह नहीं हो। उन पर ध्यान नहीं दोगे तो वे अपने आप मिल जाएँगी। तुम परदे के आगे नहीं, पीछे बैठकर जुलूस देखो। दादा जी के मन में हमेशा ऐसा जीवन तत्व आता रहता है।

ऐसे परदे के पीछे बैठकर देखो, बोलना आसान है, करना सचमुच कठिन है। पर किसने कह दिया कि जो आसान है, वही सही भी है? सच्चाई हमेशा बहुत जटिल होती है। वैसे भी जिसे अभी तक विचार समझते आए हो, वह विचार नहीं, आदत है, लत है। असली विचार तब आता है जब मन को खाली कर दिया जाए इन तमाम ऊल–जलूल बातों से। यानी इस चंचल चित्त की ऊल–जलूल हरकतों से। किताबी समझदारी से कुछ नहीं बनता। असली समझ चाहिए जो करना से आती है, सिर्फ पढ़ने से नहीं। अब जाकर जीने का, सचमुच जीने का मुहूर्त निकला है। वह भी कब? तभी समझ आती है जब उम्र बीत जाती है? सबसे बड़ी सजा। पीछे नहीं लौट सकते। बुध्दि से ही बुध्दि को पछाड़ना

होगा। बुध्दि पर सवार होके ही बुध्दि के परे जाना होगा। पहले ऐसा नहीं था, मगर अकेले होने के बाद और वृध्दवस्था में जीवन के तत्व के बारे में सोच आ रही हैं।

तभी समझ आती है जब उम्र बीत जाती है? कहीं यह समझ भी छलना न हो, एक और छलना, एक और भ्रांति। इस दुनिया में, इस मूर्खों के मुहल्लों में इटैलेक्चुअल होना ही सबसे बड़ी साँसत है। अपनी कीमती समझवाने केलिए बेटा– बहू से अलग हुए हैं दादा जी। उनका हमेशा अपनी पत्नी की याद भी है इसलिए वे सोचते हैं कि :

"तू तो सारे झंझटों से हाथ झाड़कर चल दी और मुझे अकेले मरने को छोड़ गई अपने बेटे – बहू के पास।"

शिकायतें मेरी सब तेरे साथ ही विदा हो गई। अब किससे करूँ शिकायत? आदत तो आदत है। तू तो फिर से लोट आई होगी ना अपनी उसी दुनिया में?

दादाजी की नजर में असंभव हो गया था इस आवागमन के चक्कर से छूट निकलना। मगर कोशिश कर रहा है। इसलिए तो बेटे–बहू की जमी जमाई गिरस्ती को छोड़ के बाहर आ गया है। रहते क्या यह मुमकिन था? कतई नहीं था, ऐसी सोच आयी उन्हें। बेटा तो सौ फीसदी तुझी पर गया है, बेटी जरूर मन में है, सचमुच पिताजी को समझने वाली, पसंद दृ–नापसंद लगाव विलगाव खुशी नाखुशी को सचमुच दिले और दिमागी तौर पर भी समझनेवाली। मगर वह तो अपनी ससुराल गई। सचमुच दत्ताजी डरते हैं, किसी से तो सिर्फ उसी से पर वह डर जरा दूसरे किस्म का था। बिलकुल नहीं समझा जाने का। जबकि उससे जो डर लगता है, वह इस कारण है कि वह उन्हें (दत्दाजी) जरूरत से ज्यादा हो जानती और समझती है। जरूरत से ज्यादा समझदारी भी तो मुसीबत है। वह इन्हें (दत्दाजी) कमजोरियों से भी उतनी ही वाकिफ है, जितनी खूबियाँ या ताकतें भी कहते थे उससे। माता–पिता या वृद्दजनों जैसों की मुश्किलों की जड़ है कि वे तारीफ तो चाहतें है, बच्चे अपने ही ढंग से आगे बढ़े, उन्हें पूरी आजादी के साथ खिलने और खुलने दिया जाए। और दूसरी तरफ हमारे भीतर, हमारे अनजाने एक शासक बैठा रहता है, जो चाहता है, सब कुछ उसकी मर्जी के मुताबिक चले, इसके आदेशों या निर्णयों का पालन किया जाए। और दूसरी तरफ हमारे भीतर, हमारे अनजाने एक शासक बैठा रहता है, जो चाहता

है, सब कुछ उसकी मर्जी के मुताबिक चले, उसके आदेशों या निर्णयों का पालन किया जाए।

इस दुनिया मे कोई किसी से कुछ नहीं सीखता। सब अपनी–अपनी आदतों के गुलाम होते है। संसार भी तो एक तरह की आदत ही है। ज्यादातर लोग अपने संस्कार जीते हैं और समझते हैं। वे अपनी मर्जी के मालिक हैं। दत्दाजी को मनोरंजन अपने दोस्तों के साथ समय वह हमोशा आश्चर्य होता है। विनय घोर बुध्दिवादी है, घोर संदेहवादी है, कमला भी या तो उसके जैसे है या फिर दोनों के बीच इतनी गहरी अंडरस्टाडिंग हैं, इतना गहरा लगाव कि अगर किसी बात में दोनों नहीं मिलते एक जगह, तो उससे कोई फर्क नहीं पड़ता इतनी छूट एक–दूसरे को वे आसानी से, प्रेम से देते हैं।

इस अकेलेपन के जीवन में रामरथी नौकरानी आती है, मगर यह भी दत्दा जी को पसंद नहीं। इसलिए वे सोचते हैं कि स्वावलंबी पंरपराएँ आदत को नष्ट कर देती हैं इस रामरथी, फिर धीरे–धीरे वह घर की सदस्य बन जाती है, अपना खाना बनाके और हाथ की कला में। दत्दा जी अपने दोस्तों, सोसो और सप्रेसाहब, संयोग क्या है कि वह दत्दा जी की बहू के बचपन की सहेली, उसके जीवन कथा बहुत ही कारनगिर है। उसका पति खून करके फरार हो गया था और अभी तक फरार है। मगर अब भी उसी से पैसे ऐंठता है। रामरथी छह–छह घरों में बरतन चौका करके किसी तरह अपना और अपने बच्चों का पेट भरती है। तो जब पहली बार दत्दा जी को उसके बारे में किसी ने बताया तो, उसको(दत्दाजी) लगता था कि उसकी पूरी कथा जाननी चाहिए। लेकिन रामरथी को पसंद नहीं हैं, इसलिए वह पूछती है कि "क्या मुझ पर कहानी की किताब लिखती है? यह बात दत्दाजी को सत्य लगती थी, उसने फिर भी लेखन का काम शुरू किया, इसलिए वह कहीं नहीं जाना चाहता था। बुलावा आया है कि उनका बेटे और बेटी से और एक मौका है कि सोसो अपने (Project) शोध में मदद करने के लिए, मगर उसका मन नहीं था।

वह अकेले अपनी पत्नी की स्मरण से रामरथी की कहानी लिखना चाहता था, इसलिए अंत में वह अपने को स्वयं साइको बनकर दोस्त को पत्र लिखता है, मैं अपने जीवन से स्वयं अकेले रहना चाहता हूँ।

रमेशचन्द्र शाह जी का यह उपन्यास "सफेद परदे पर" दत्दा जी नामक एक वृध्द आदमी की कहानी है। इसमें उसका अकेलापन वृध्दावस्था और उससे सम्बन्धित विषयों और समस्याएँ सब हमको मिलती हैं। दत्दाजी अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद अकेले एक प्लाट में रहते हैं। हमेशा उनके जीवन में नियम पालन करना है, काम सब ठीक समय पर, साँफ, साँफ करना चाहते थे, उनकी पत्नी भी ऐसा करती थी, मगर उसके मर जाने के बाद, दत्दाजी अपने बेटे और बहु के साथ रह नही पाते, क्योंकि उनकी आदत अलग है। घर में जूठे प्याले, गिलास जहाँ–तहाँ बिखरे रहें, यह दत्दाजी को पसन्द नहीं है। जो कहाँ कुछ भी खाता पीता है, बरतन वहीं छोड़ के चल देता है। मेरी पत्नी को क्या कुछ कम था? एक भी जूठा बरतन था उसे। कुछ भी तो नहीं सीखा बहू ने उससे।

इसलिए वे गुस्से से कहते थे कि

"इस दुनिया में कोई किसी से कुछ नहीं सीखता। सब अपनी–अपनी आदतों के गुलाम होते हैं। संस्कार भी तो एक तरह की आदत ही है। ज्यादातर लोग अपने संस्कार से जीते हैं, वे अपनी मर्जी के मालिक हैं।"....16

जगत के प्रत्येक विषय में वृध्दि हो रही है। वस्तु या अन्य हरेक क्षेत्र में इस सत्य का परिचय मिलता है। वस्तु की वृध्दि की सीमा निश्चित है। अगर वृध्दि प्राप्त करते–करते असीम में मिला जाता है। वस्तु अंतिम सीमा का अतिक्रमण करने पर वही वस्तु नहीं रह जाती, वह अन्य पदार्थ में रूपांतरित होती या उसका रूप परिवर्तित हो जाता है। शिशु वृध्दि पाकर किशोरवस्था में पदार्पण करता है, किशोर से युवावस्था, युवावस्था से वृध्दावस्था में पहुँचता है। वृध्दावस्था मनुष्य जीवन की अंतिम सीमा है। उसके बाद देह की वृध्दि नहीं होती। देह की वृध्दि न होने पर भी वृध्द व्यक्ति के अनुभव में वृध्दि होती रहती है। इन अनुभवों का मूल्ल वास्तविक जीवन में कम नहीं होता। सुख–दुःख तथा घात–प्रतिघात के बीच से गुजरते हुए जीवन के अंत तक वे अनुभवों को संजोते रहते हैं। यह विषय युवक वृध्दों के पास हार जाते हैं। शरीरिक क्षमता में काफी दुर्बल होने पर भी इसीलिये वृध्दों का जगत में अधिपत्य है, वे ही दुनिया में श्रेष्ठ आसन पर अधिकार जमाए हुए हैं। अनुभव की अमोद्य शक्ति से वे देश की घटना एवं गति का नियंत्रण करते हैं। उद्देश्य के बारे में सचेत करते एवं रूचि अनुरूप गठन का प्रयास करते हैं।

हम वृध्दों को बोझ समझ कर, उनके अनुभवों का उपयोग नहीं करते, यह हम अपनी ही हानि कर लेते हैं। इन कारणों से ही वृध्दों को परिवार की शोभा कहा गया है। जिन परिवारों में वृध्दों का आदर नहीं होता, वे कभी अच्छी तरह कठिन नहीं हो उपयोग करना होगा अन्यथा सब कुछ व्यर्थ हो जायगा। वर्तमान युग में अर्थ नैतिक, विचारधारा की ही प्रधानता है। वस्तुओं पर ही दृष्टि आबध्द रहने के कारण आज व्यक्ति का अपना उद्देश्य विस्मृत हो गया है। प्राचीन काल या उसके बाद के भी काल की तरह आज जीवन दर्शन का वैसा अर्थ नहीं रह आया। सत्य कभी विकृत नहीं होता, केवल दृष्टिकोण की त्रुटि के फलस्वरूप विभिन्न रूप में प्रतीत होता है, मूलतः एक ही रहता है। तथापि हम वर्तमान युग की धारा को अस्वीकार नहीं कर पाते, उससे सहयोग रखना हमारे जीवन पथ पर अग्रसर होने के लिए जरूरी है।

वर्तमान काल अतीतकाल का ही फल है। अतीत काल में जो कुछ अच्छा या बुरा था, वह सब इस काल में भी विद्यमान है, अतः वर्तमान काल की अवज्ञा या घृणा नहीं की जा सकती है। इस नवीनता का सादर स्वागत करना पड़ेगा। कोई भी कार्य कारण बिना नहीं होता, इसलिए अतीत ही नए रूप में सजकर हमारे द्वारा पर आया है। हम भले पहचान न पा रहे हैं, पर वह आ चुका है। हमारे दृष्टिकोण की यह सीमाबध्दता हमें यथार्थ कल्याण के पथ की ओर नहीं ले जा सकती, इसीलिए यथार्थ मनुष्य को पाया जाना कठिन हो गया है। हमारी वर्तमान धारणा आदमी की कल्पना सीमित नहीं है, मनुष्य को अर्थोपार्जन का एक यंत्र मात्र समझा जा रहा है। यथार्थ मनुष्य का मिलना आज अत्यंत कठिन है। मनुष्यत्व का जरा सा विकास ही पूर्ण का परिचय नहीं है।

आज से सौ वर्ष पूर्व हमारे देश में जैसे साधु समावेश हुआ था, आज वैसा नहीं देखा जाता। इसका कारण है, जो उन्नत, महान साधु थे वे सभी शरीर त्याग चुके हैं। जिन्हें पुनर्जन्म करना हो, उन्हें भी उर्पयुक्त आधार या आश्रय ढूँढ कर भी नहीं मिल पाता। माता पिता न मिलें, तो कैसे आए जो साधु संत हमारे देश में जन्म ले चुकें हैं, उनके माता–पिता के जीवन की पर्यावलोकन करने पर यह सत्य उद्‌घाटित होता है। इस तरह वृध्दावस्था में लोग समाज से दूर हो जाते हैं। मगर हर एक व्यक्ति को यह वृध्दावस्था जीवन में

अनिवार्य रूप से आ जाती है। इस वृध्दावस्था दत्दाजी अकेलेपन का अनुभव करता है, इसलिए वह सोचता है कि

"बर्तन माँजते हुए मुझे लगता है, मैं खुद एक बर्तन हूँ, जिसे दुनिया पल दृ–प्रतिपल जूठा करती रहती है। सब में, जूठा बर्तन मुझे कहीं भी पड़ा दीखता है तो मैं बेचौन हो उठता हूँ। जब तक माँज नहीं देता, चौन ही नहीं पड़ता मुझे पहले ऐसा नहीं था।"....17

प्रत्येक व्यक्ति के कुछ प्रत्यक्ष कर्तव्य होते हैं, उसे संपादित करते हुए अप्रत्यक्ष कर्तव्य भी करना होता है। कर्तव्य को दो भागों में बाँट सकते हैं। परिवार में माता–पिता, भाई–बहन, स्त्री, पुत्र–कन्या सभी रहते हैं। माता–पिता के अनुग्रह से ही वर्तमान परिवार की सृष्टि हो पाई है। अतएव उनके प्रति कर्तव्य कभी भी समाप्त नहीं होते। कर्तव्य बोध का यही कारण है। माता–पिता के प्रति अवज्ञा भाव रखना, उन्हें दुःख पहुँचाना व दुःख का कारण बनने पर बड़ी सजा भोगनी पड़ती है, कई रोग भोग हो सकते हैं, शांति पथ में निश्चित तौर पर बाधा आती है। पिता–माता की सेवा प्रत्यक्ष कर्तव्य है। बुढ़ापे में उन्हें अकेले नहीं छोडना चाहिए, यह बहुत बढ़िया सजा है यह अकेलापन। स्त्री, पुत्र–कन्या का पालन पोषण, शिक्षा भी प्रत्यक्ष कर्तव्य है। पुत्र–कन्या को उत्पन्न करने पर उनके प्रति दायित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। हम ने जिस देश में जन्म लिया है, जिसकी जलवायु हमें धारण किए हैं, उस देश के प्रति कर्तव्य बोध भी प्रत्यक्ष कर्तव्य में आता है। विश्लेषण से यह सिध्द होता है कि जहाँ तक हमारा व्यक्तिगत दायित्व है, वहाँ तक ही प्रत्यक्ष कर्तव्य होता है। बाकी सब अप्रत्यक्ष कर्तव्य है। इस प्रकार प्रत्यक्ष कर्तव्य की सीमा पर विचार करना चाहिए। आत्मिक उन्नति करने में हम सबको सचेष्ट रहना चाहिए। आत्मा न हो तो हमारा अस्तित्व ही मिट जाता है, न हमारी देह रहती है, न हमें विश्व का कोई पा सकेगा अतः आत्मा की पुष्टि हेतु हमें सचेष्ट रहना चाहिए। यह भी प्रत्यक्ष कर्तव्य है। आत्मिक कल्याण प्रत्यक्ष कर्तव्यों में प्रधानतम है, बाकी सब इसकी तुलना में तुच्छ हैं। इस प्रकार कर्तव्य निर्धारण करके जीवन पथ पर चलना चाहिए।

दत्दाजी की एक बढ़िया आदत है कि उन्हें नहीं सिर्फ समाज में सब वृध्दजन की यही आदत है कि अपने अनुभवों को युवालोगों से बार बार बोलने, मगर सुननेवालों को यह बात अच्छी नहीं लगती, ऐसे ही एक बार उन्होंने कहा कि,

"मगर तुम्हें अपनी गलती तो कभी दिखाती ही नहीं ती, दूसरों की कमियों और कमजोरियों भर दीखती थीं।"....18

परिवार में और दफतर में ही नहीं बाहर कहीं भी समस्या यह है कि दूसरों के बारे में सोचना, उसकी गलतियों, कमियों को सिर्फ देखना है। ऐसा होने पर दिन–दिन परिवार में या आपस में प्यार की कमी होगी भविष्य में। सबकुछ अनित्य और मूल्यहीन है, यह जानकर मनुष्य स्वाभाविक ही सतर्क हो जाता है। व्यक्ति के श्रेष्ठ गुण दया, क्षमा, विनय धैर्य आदि क्रमशः अधिक बढ़ेंगे और अहंकार क्रमशः सीमित या म्लान होता जाएगा। हमारे बाहर आचरण को कैसे प्रभावित करता है, वह कुछ दिनों में ही अनित्य वस्तु पर आकर्षण बढ़ने लगेगा। इसी प्रकार जगत की सभी वस्तुओं की समता का नियमन होता है। एक ओर कम होते ही दूसरी ओर बढ़ना, यह जोड़–घटाना निरंतन है। इस प्रकार परिवार में और एक बात मुख्य रूप से माना जाता है कि तात्कालीन निर्णय है।

वह न तो सामाजिक, न राष्ट्रीय और न तो पारिवारिक है, नितान्त व्यक्तिगत विषय तक सीमित है। हम जीवन पथ पर चलते हुए दीर्घकालीन परिकल्पना जैसे परिवार की जनसंख्या कितनी होगी, आदि बहुत सी समस्याओं को सामने रखा करते हैं। परिकल्पना की प्रकृति, परिकल्पनाकारी की दीक्षता, गति पर निर्भर करती है। हम परिवार के अभिन्न अंग हैं, अतः परिकल्पना में योगदान करना अनिवार्य है। परिवार का अंग होते हुए भी कैसे तत्कालीन निर्णय ले सकते हैं, वहीं विचारणीय है।

परिवार में कई लोग निश्चित नियमों पर ही चला करते हैं, इससे बाहर कुछ भी वे बरदाश्त नहीं कर पाते, कुछ अस्तव्यस्त देखने पर उनके मन में प्रतिक्रिया होती है क्योंकि वे अत्यंत नियम के पक्के हैं। परिवार के कुछ लोग नियम से चलते हैं, नियम से खाते पीते हैं। उनका यह नियम अवश्य ही प्रशंसनीय है। पर कभी कुछ हेरफेर हो भी जाय, तब उनके मन पर इसकी तीव्र प्रतिक्रिया हो तो यह समर्थन योग्य नहीं है। अत्यधिक नियम–परायण होने में बाधा नहीं है, लेकिन प्रतिदिन अभ्यास करते हुए वह संस्कार में परिणत् हो जाता है, परिणामतः यह बंधन स्वरूप हो जाता है। व्यक्ति का दर्द जीवन का अर्थ स्वरूप दीर्घ जीवन ही होगा। वैसे ही व्यावहारिक आचरण यदि लचीला न हो तो व्यावहारिक जीवन भी सुन्दर नहीं हो सकता। हम नियमों की बात करते समय पहले सूर्य

और चंद्रमा का उदाहरण दिया करते हैं। विचार पूर्वक देखें तो ये भी नियमनीय या लचीले हैं। सर्वदा एक जैसी किरणें नहीं दिया करते। हेर फेर होता है पर उस हेरफेर में भी नियम है। दरअसल बात यह है कि नियम मानने में कोई दोष नहीं है, परंतु उसके द्वारा संस्कार की सृष्टि होकर नए जाल की उत्पत्ति न कर लें।

पारिवारिक जीवन में कुछ दीर्घ अवधि की परिकल्पना लेनी ही पड़ती है। उस परिकल्पना की सीमाओं में रहकर भी हम तत्कालीन निर्णय ले सकते है। जीवन को सुंदर बनाने के लिए व्यावहारिक जीवन में लचीलापन जरूरी है, लेकिन की मूल नीतियों का भी विसर्जन न कर दें। बगीचे में विभिन्न रंगों के फूल खिलते और सुशोभित होते हैं। मानव जीवन में उत्थान–पतन लगा ही है, सुख–दुःख की तरंगें भी हैं, शोक–ताप है, यही साधारण नियम है। सुख के समय जो नियम लागू होते हैं, दुःख के समय उसमें कुछ हेरफेर अवश्य ही होता है। शोक–ताप के समय भी भिन्न–भिन्न कदम उठाना जरूरी है।

विभिन्न समय पर जो विभिन्न घटनाएँ घटती और भिन्न–भिन्न परिवेशों की सृष्टि होती है, उन सबके साथ सामंजस्य बनाए रखकर, उन घटना व परिवेश को कल्याण्कारी बनाने के लिए जो निर्णय लेना आवश्यक है, वही तात्कालिक निर्णय है। मनुष्य के जीवन को सुंदर न कल्याणमुखी करने के लिए ही तात्कालिक निर्णय का प्रयोजन है।

4.10 'पूनर्वास' उपन्यास में सांस्कृतिक एवं सामाजिक चित्रण

हिन्दी साहित्य में नवीन, एवं दिशा प्रधान कर युगान्तर प्रस्तुत करनेवाले डॉ. रमेश चन्द्र शाह हैं। प्रोफसर दीनानाथ दर्शनशास्त्री के प्रोफेसर हैं। पहले लखनऊ फिर हैदराबाद और अब अहमदाबाद में भी जहाँ विभागाध्यक्ष की कुर्सी समहाले, उन्हें मुश्किल से तीनेक साल हुए होगे, उनके कद्रदानों की कोई कमी नहीं। प्रोफसर नाथ के पारिवारिक दायित्व लगभग पूरे निभचुके हैं। दोनों लड़के पढ़ाई पूरी करके अच्छी खासी नौकरियों में जम गए हैं और एक की तो यही अहमदाबाद में गिरस्ती भी बसाई जा चुकी है। फिर भी, नाथ जी का मतलब यह तो नहीं कि दमयन्ती सब कुछ छोड़–छोड़ के अपने पति के साथ वानप्रस्थ ले। लेकिन वे खुद यह नहीं चाहेगी। नाथ जी की जरूरतें, जो पहले भी असीमित नहीं थी, तो एकदम सिकुड़ गई हैं। वे हमेशा पुराने जमाने के विषय के बारे में

आज से तुलना करते हैं। इसलिए कहते है कि आस्तिक होना। जब आस्तिक होने की कहीं से कोई गुंजाइश न हो, ऐसे में आस्था की तलाश करना ही ज्यादा बड़ा पुरूषार्थ है। न सही धार्मिक किसी रूढ़िवादी अर्थ में, यह योगसाधना का मार्ग जो प्रोफसर नाथ ने अपनाया है। इसलिए शाम को आजकल अपनी कोठरी में एकान्त में या जंगल के सुनसान में वे एक खास अनुपस्थिति से बरी तरह घिर जाते हैं। पर खुद उनका अपना जीवन–दर्शन क्या है। इस पर तो उन्होंने कभी विचार ही नहीं किया। इसलिए पति–पत्नी दोनों के बीच में वाद विवाद होता था, इसलिए वे बोलते है शादी तो दिमाग से नहीं की जाती था? दिल क्या कहता था तुम्हारा? दिल कुछ और कहता था, दिमाग कुछ और कहता था। उलटा हो उलटा करते रहे तुम अपनी जिन्दगी में। अब भुगतना तो जितना भुगतना है।

फिर बाद में वे अपने आप को जवाब भी देते हैं कि मैंने सब सोच समझ के ही किया। वह पहले नहीं ऐसी थी। अभी ऐसी हो गई है। इन दोनों का दिन चर्चा से चलता था। एक दिन प्रोफसर नाथ जी अपने काम में व्यस्त थे, तब वे आए यूनियन के उद्घाटन का निमंत्रण करने के लिए, यह सब देख कर वह बहुत गुस्से में था, छात्रों ने बताया कि :

"आप तो हमारी इनसल्ट कर रहे हैं। प्रोफसर नाथ जबरन मुस्कराए– इसमें इनसल्ट की बात क्या है?"....19

अंत में उन्होंने योग का उपयोग स्वीकार किया। यह निमंत्रण प्रोफसर चौधरी से मिला। यह उद्घाटन प्रोफसर नाथ के जीवन में बढ़िया मोड़ है, क्योंकि वहाँ जाने के बाद भी पता चलेगा की डॉ.चौधरी परिचित आदमी हैं, चेहरे में रोशनी हो गई। उत्घाटन में नाथ जी एक राजनैतिक भाषण दिया। यहाँ, वहाँ उसको बहुत दोस्ती मिली, वह असली जिंदगी को भूल गया, पत्नी दमयंती को भी, मित्र मंण्डल से मनीषा नामक एक पत्रिका भी निकाली। उसी समय चौधरी की पत्नी से भी मुलाकात हुयी थी, दोनों एक दूसरे के साथ प्रसन्न हो, अपने आप को भूल करके बात किये थे।

प्रोफसर नाथ को एक अच्छी आदत है डायरी लिखना, वह अपनी डायरी में अपनी सभी पसंदीदा चीजे लिखेंगे। इसी तरह शोभना के बारे में लिखते समय उनका मन और दिमाग से गलत दिखता था, तुरंत प्रोफसर नाथ अपने पुराने जीवन को जाना चाहता था।

उस दिन उनकी शादी का सालगिरह था, उसको अपनी पत्नी दमयन्ती को खत लिखना था कि अपने प्रेम और भविष्य के बारे में, तब तो उन दोनों का अपना असली प्रेम समझ में आया। प्रोफसर नाथ चौधरी जी को भी अंत में पत्र लिखा था कि विदा लेता हूँ, आशा है, तुम दोनों अच्छी तरह हो और ठंड का भरपूर मजडा ले रहे हो। यहाँ है उपन्यास का अंत, उपन्यासकार ने अच्छी तरह परिवार और पति, पत्नी के रिश्ता के बारे में स्पष्ट किया है।

रमेशचन्द्र शाह द्वारा लिखी गए पूनर्वास उपन्यास में परिवारिक, मतलब पति–पत्नी दोनों के बीच में जुड़े हुए प्रेम भाव, अंह भाव और बच्चों के मनोभाव और शिक्षा की परिस्थति और राजनीति क्षेत्र के भाव इस प्रकार सब समाज में जुड़े हुए बातों का वर्णन हैं। उपन्यास के नायक प्रोफसर दीनानाथ के कालेज वातावरण और घर में पत्नी दमयंती का वर्णन है। इस में दीनानाथ हमेशा अपने छात्रों, दोस्तों के साथ समय बिताता था। इसलिए पत्नी उनपर गुस्से से बात कर रही हैं। जिंदगी में शादी कितनी महत्वपूर्ण बात है इसलिए वह कहती है कि शादी तो दिमाग से नहीं की जाती ना? दिल क्या कहता था तुम्हारा? दिल कुछ और कहता था, दिमाग कुछ और कहता मुश्किल था। उलटा ही उलटा करते रहे तुम अपनी जिन्दगी में। अब भुगती जितना है।

दीनानाथ अपने मन में सोच रहा है कि नहीं, मैंने उलटा दृ–पलटा कुछ नहीं किया। मैंने सब सोच समझ के ही किया। वह पहले ऐसी नहीं थी। अभी ऐसी हो गई है। सरलता मानव चरित्र का एक विशेष गुण है। यथार्थतः सरल व्यक्ति के संग प्राप्ति से दूसरे व्यक्तियों को आनंद मिलता है। इस एक सरलता के गुण से मनुष्य के लिए ईश्वर प्राप्ति संभव हो जाती है। इस सरलता के गुण को, जो पति–पत्नी, दोस्तों और रिश्तेदोरों के बीच होना चाहिए। ईश्वर से सरल भजन से पुनः प्राप्त कर पाते हैं। यथार्थ साधु–संत अत्यंत सरल होते हैं। इस सरलता के जीवन से क्रमोन्नति का फल है। उनके चरित्र से सरलता का युग कुछ अंश में घट गया है। मानव जितना उन्नत होता जाएगा, जो विचारशीलता का प्रत्यक्ष फल है, उतना ही उसका जीवन जटिल होता जाएगा। वह शांति के द्वारा उतना ही दूर होता जायगा। यह सरलता और शांति जीवन में सब जगह भी होनी चाहिए।

जहाँ जीवन धारण या रक्षा का प्रश्न है, वहाँ कार्य का विचार करना ठीक नहीं होगा। अमुक कार्य निन्दनीय है। यह सोचते हुए अन्नाहार में रहना पड़ सकता है। विवाह

के बाद कन्या शांतिपूर्वक रहेगी, यही हर माता–पिता के लिए काम्य वस्तु है। जिस परिवार में कन्या का विवाह होगा, उसकी संरचना, परिवेश तथा चरित्र आदि पर विचार करने के बाद ही कन्या को सत्पात्र के हाथों प्रदान करना उचित होगा। पश्चात्य देशों में छोटी–छोटी बातों पर, यहाँ तक कि नींद में जोर से नाक बने, तो ही तलाक हो जाया करते हैं, ऐसे असहनशील समाज में शांति की आशा दुराशा मात्र है, परंतु दुःख का विषय यह है कि हम तेजी से उसी पथ की ओर दौड़ रहे है। मानव जीवन में सहानुभूतिशील होना चाहिए। मुख्य रूप में परिवार में पति–पत्नी में भी जरूर इस भाव का संपर्क ही प्रधान है। पति–पत्नी में यदि सहानुभूति घट जाय तो उनके संबंध में दरार पड़ने की संभावना है। अतः दाम्पत्य जीवन में हर समस्या के पहले ही हम दर्दी या सहानुभूति की यथार्थ अवस्था का सम्यक विचार आवश्यक है।

वर्तमान युग में पारिवारिक जीवन में शांति अक्षुण्ण रखना दुष्कर्म कार्य है क्योंकि हम एक विच्छिन्न प्रवण युग में प्रवेश कर चुके हैं। हमारे पारिवारिक जीवन की मूल भित्ति ही है। जन्म ग्रहण करने के बाद उम्र जरा बढ़ने पर माता–पिता को दिखाकर बताते हैं, ये तुम्हारे पिता हैं, माँ की बातों पर अनास्था प्रकट करें तो हमारा अस्तित्व ही विपन्न हो जायगा। पिता का स्नेह, ममत्व, दया माँ के वाक्यों की सत्यता सिध्द करती है। पिता का स्नेह, ममता का भोग करके ही हम उनके प्रति आस्थावन हो जाते हैं। आस्था और विश्वास एक ही बात नहीं है। आस्था के पीछे संशय रह सकता है, परीक्षण, निरीक्षण करके संशय शून्य होने पर वहीं आस्था विश्वास में परिणत होती है। ऐसे बच्चों के साथ और बच्चों के मार्गदर्शक माता दृ–पिता इन दोनों के बीच में विश्वास जरूरी होना चाहिए।

विश्वास के बिना पारिवारिक व सामाजिक जीवन अचल है। पति–पत्नी, पुत्र, कन्या, भाई–बहन में जो विश्वास रहता है वह स्वार्थयुक्त होता है। यहाँ तक कि माता–पिता के प्रति भी विश्वास ऐसा ही है। वहाँ कलह के बीच विद्यमान है, वहाँ विश्वास नहीं टिक पाता। पारिवारिक और सामाजिक जीवन में पिता–माता, पिता–पुत्र, माता–दृपुत्र, भाई–बहन के बीच जो विरोध दिन–रात हमारे सामने आते रहते हैं, यह निश्चित रूप से विश्वास के अभाव से घटित होते हैं। मनुष्य आध्यात्मिक जीवन के प्रति उदासीन रह सकता है परंतु अपनी स्त्री, पुत्र, कन्या स्वजन, बंधु बांधव का रंग उनके जीवन को प्रवाहित करता है।

उसमें विश्वास का अवधान कितना है, यह जाँय कर देख लेना जरूरी है। ऐसा ही विश्वास पत्नी–पति के बीच में हो तो परिवार में सुखमय लेकिन उपन्यास में दीनानाथ और दमयन्ती के बीच में ऐसा विश्वास जीवन नहीं हैं। वे हर एक विषय को भी अपने को भी अलग से सोचते हैं इसलिए दमयन्ती बोलती है कि "हे भगवान!" यह दाम्पत्य भी कितनी बड़ी सजा है! क्या इससे भी बड़ा कोई नरक विधाता मनुष्य केलिए रच सकता था? कैसी उलट बाँसी है यह, कि न तो मैं उसके बिना रह पाता हूँ, न ही उसके साथ रह पाऊँ। फिर वह यह भी सोचती है कि अलग हो जाने वाले लोग दयनीय और हास्यास्पद लगते रहे हैं, दुःख भुगतान और इस भुगतान से संस्कृति और इस समाज में ठीक होगा, पसन्द नहीं तो, इस में क्या गलती है?

"अकेले रहने से आदमी क्यों इरता है? उर्फ मैं भी किस तरह की बातें सोचने लगता हूँ। मुझे क्या पता था कि यहाँ भी वह मेरी चेतना पर उसी तरह हावी रहने वाली है।"....20

दमयंती अपने आपसे सोचती रहती है, वह दुख का महसूस करती है कि यह भी जीवन नियति का ही हिस्सा है, इस तरह उससे दूर भाग जाती है, और इसकी जीवन निरर्थक हो गया। भाई, बहन में कुछ प्रियत्व रहेगा ही क्योंकि वे एक ही माता–पिता की संतान हैं। एक से परिवेश में पलने दृ–बढ़ने के फलस्वरूप यह प्रियत्व रहता है। वैसा प्रियत्व उपरोक्त भाई–बहन के क्षेत्र में रहा होगा। विवाह के बाद भग्नी अन्य परिवार से युक्त हो जाती है। नये परिवेश में उसका जीवन नया होगा। भाई अपने परिवार में रहेगा। अतः एक ही वृक्ष के फूल होने हुए भी वे पृथक हो जाते हैं। अतः केवल प्रियत्व रहने से ही वे एकान्त में नहीं हो सकते। दोनों को परस्पर संतोष संपादन में सचेष्ट होना चाहिए, जिसका अर्थ होगा, कुछ अंशों में स्वार्थ का त्याग करना। कुछ भी स्वार्थ त्याग के बिना धारण करके रखा नहीं जा सकता। पति–पत्नी के बीच परस्पर संतोष साधन के माध्यम से एक दूसरे के प्रति उत्तरदायित्व भी बढ़ता है। यदि इनमें की गयी चेष्टा एवं प्रीति बनाए रखने की आकांक्षा से वह कभी विराट रूप नहीं लेगा।

पति–पत्नी के क्षेत्र में सहानुभूति व हमदर्दी की बात कहीं है, वह भी प्यार या प्रियत्व से पृथक है। प्यार की आड़ में स्वार्थ चिंता रह सकती है पर हमदर्दी के पीछे ऐसा

नहीं रहता। पारस्परिक विश्वास, अबाध रूप से मेल जोल, एक मन होना, ये बातें ही सहानुभूति का धीरे–धीरे गठन करती हैं। अतः पति–पत्नी के बीच दाम्पत्य जीवन की मूल समस्या ही इस सहानुभूति या हमदर्दी को केन्द्र बनाकर है। उसके प्रयोजन अनुसार क्रियान्वयन करके कार्य सिध्द करना पड़ता है।

इस तरह उपन्यासकार ने अच्छे ढंग से पति–पत्नी प्रेम भावना, अंह भावना और सहानुभूति यह सब पात्र के द्वारा लिखा है। बीच में शिक्षा के क्षेत्र में जुडे हुए आज की स्थिति और समाज स्वभाव, राजनीति भाव भी हमको इस उपन्यास में मिलते हैं। इसलिए हमारी संस्कृति, भाव और उसको समाज से क्या? संबन्ध और समाज भाव को उन्होने इस प्रकार लिखा है।

"आप अपने समाज को नहीं जानते क्या? प्रेम अपनी जगह है। विवाह अपनी जगह है। जो आदमी पैंतालीस बरस की उम्र तक कुँआरा रहा आता है, उसका अचानक ऐसा ड्रामा खड़ा कर देना लोगों को आसानी से नहीं पच सकता। देखिए गुरू–शिष्य सम्बन्ध की एक मर्यादा तो है ही।"....21 यह अमरीका नहीं है। ठीक है, हो सकता है दस–बीस सोलों में यह सब आम बात बन जाए। हमारे भारत में विवाह का संस्कृति पालन अलग है। अमरीका जैसे विदेश में अलग है। यहाँ की शिक्षा प्रणाली और अमरीका की शिक्षा प्रणाली अलग है। इस उपन्यास में नायक दीनानाथ एक प्रफोसर पात्र है, उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में बहुत सारे बदलाव लाने के लिए कोशिश कर रहा है। हमारे समाज में शिक्षा का प्रभाव बहुत है। आदिकाल गुरूकुल शिक्षा से आज की आधुनिक शिक्षा तक इस जगह में बहुत सारे बदलाव आ गया है।

आधुनिक युग में लोगों का जीवन दर्शन बदल गया। परिणामस्वरूप शिक्षा के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन होने लगे। बालक के व्यक्तित्व की उपेक्षा न करके उसकी मूल प्रवृत्तियों को स्वतंत्रतापूर्वक विकसित के अधिक अवसर प्रदान किए जाएँ। इससे शिक्षा में मनोविज्ञानिक प्रवृत्ति का होना है वैसे शिक्षा बालक प्रधान होती चली गई। शिक्षा का उद्देश्य बालक के व्यक्तित्व को विकसित करना है। बालक के चरित्र का निर्माण करना है। समय परिवर्तन के साथ–साथ जीवन के उद्देश्य में फिर से परिवर्तन आया। ज्यों ही औद्योगिक क्रान्ति आरंभ हुई, शिक्षा भी इसके प्रभाव से अछूती न रह सकी। व्यावसायिक क्रान्ति के

होते ही लोगों का जीवन दर्शन बदल गया। परिणामस्वरूप शिक्षा का उद्देश्य हो गया कि व्यक्ति को किसी व्यवसाय के लिए तैयार करना चाहिए।

4.11 निष्कर्ष

आधुनिक युग में लगभग सभी राष्ट्र अपनी–अपनी विचारधाराओं तथा आवश्यकताओं के अनुसार अपने–अपने जीवन के लक्ष्यों को दृष्टि में रखते हुए अपने–अपने यहाँ की शिक्षा के उद्देश्यों का निर्माण कर रहे हैं। जिन देशों में जनतंत्र की भावना प्रबल है वहाँ की शिक्षा के उद्देश्यों का निर्माण साम्यवादी विचारधाराओं के अनुसार किया जाता है। इंग्लैंड तथा अमरीका में जनतंत्र फैला हुआ है। वहाँ की शिक्षा का उद्देश्य बालक के व्यक्तित्व का विकास करना है। अमरीका में प्रयोजनावादी तथा उपयोगिता पर बल दिया जाता है जिससे बालक समाज का एक उपयोगी अंग बना जाए। चीन जैसे साम्यवादी देशों में भारत को ऐसे लोगों की आवश्यकता थी जो शासन कार्य में सहयोग प्रदान कर सकें। अतः शिक्षा का उद्देश्य केवल दफ्तरों में कार्य करने वाले बाबुओं का निर्माण करना था। अतः बदलते हुए जीवन दर्शन तथा देश की बदलती हुई आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए अब हमारी शिक्षा का उद्देश्य उत्तम नागरिकों का निर्माण करना है। इस प्रकार भिन्न–भिन्न देशों भिन्न–भिन्न विचारधाराओं के अनुसार सर्देव बदलते रहे और आगे भी बदलते रहेंगे।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. गोबर गणेश – रमेश चन्द्रशाह – पृ.सं : 87
2. गोबर गणेश – रमेश चन्द्रशाह – पृ.सं : 291
3. विनायक – रमेश चन्द्रशाह – पृ.सं : 124
4. विनायक – रमेश चन्द्रशाह – पृ.सं : 243
5. विनायक – रमेश चन्द्रशाह – पृ.सं : 371
6. विनायक – रमेश चन्द्रशाह – पृ.सं : 383
7. किस्सा गुलाम – रमेश चन्द्रशाह – पृ.सं : 84
8. किस्सा गुलाम – रमेश चन्द्रशाह – पृ.सं : 124
9. किस्सा गुलाम – रमेश चन्द्रशाह – पृ.सं : 154
10. अखिरी दिन – रमेश चन्द्रशाह – पृ.सं : 21
11. अखिरी दिन – रमेश चन्द्रशाह – पृ.सं : 48
12. अखिरी दिन – रमेश चन्द्रशाह – पृ.सं : 93
13. अखिरी दिन – रमेश चन्द्रशाह – पृ.सं : 21
14. सफेद परदे – रमेश चन्द्रशाह – पृ.सं : 19
15. सफेद परदे – रमेश चन्द्रशाह – पृ.सं : 74
16. सफेद परदे – रमेश चन्द्रशाह – पृ.सं : 112
17. सफेद परदे – रमेश चन्द्रशाह – पृ.सं : 126
18. पूनर्वास – रमेश चन्द्रशाह – पृ.सं : 09
19. पूनर्वास – रमेश चन्द्रशाह – पृ.सं : 23
20. पूनर्वास – रमेश चन्द्रशाह – पृ.सं : 56
21. पूनर्वास – रमेश चन्द्रशाह – पृ.सं : 112